मनोविज्ञान और शिक्षा-शास्त्र

मनोविज्ञान और शिक्षा-शास्त्र

(नार्मल स्कूलों और शिक्षा-प्रेमियों के लिए
मनोविज्ञान की पुस्तक)

लेखक

भैरवनाथ झा

बी० एस-सी०, एल० टी० (इलाहाबाद), बी० एड० (एडिनबरा),
पी० ई० एस०, मनोविज्ञान-अध्यापक, ट्रेनिङ्ग कालेज,
इलाहाबाद
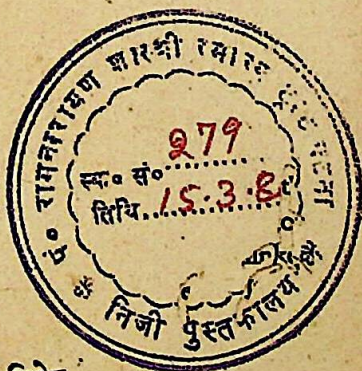
प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
इलाहाबाद

INTRODUCTION

There is hardly any science which has influenced the social studies at the present time so much as the science of psychology. Education in whatever sence it may be understood, aims at individual self-realisation and social cohesion. With the crystallisation of the modern philosophy of education, the connection of education and social development and the relationship of school and society have been made clear. Educationists, therefore cannot do without taking cognizance of the growing science which has of late been influencing all human and social studies. In fact, a branch of psychological study going by the name of educational psychology, has not only sprung up but sufficiently developed.

A book dealing with the principles of modern psycholo[illegible] of education in vernacular has long been overdue. To fulfil this need and to help those engaged in vernacular education this book has been written. In main it has tried to cover the syllabus recently laid down by the Education Department for the Normal Schools. While embodying what is in that syllabus, I have taken a wider view in order to increase the general usefulness of the book. The basic principles are those which has emanated from the views of such original thinkers on the subject as Mr. Dougall, Drever, Nunn, Burt etc. I have contented myself with sketching the arguments of the various thinkers and have made comments on their arguments and conclusions, but I have tried to avoid being dogmatic. Wherever available, simple and reliable evidence from experimental psychology have been utilized.

One of my chief difficulties has been the expression of psychological ideas in vernacular through suitable technical terms. I have selected the terms from "The Hindi Scientific Glossary' of the Nagri Pracharini Sabha, Benares, and 'The Hindi Scientific Terminology' of the Vignyana Parishat, Prayag, after a due consideration of the various alternatives available. A glossary has been added at the end. I, shall welcome any suggestions as would make the ideas better comprehensible. I would, however, request enthusiasts for popular words to avoid sacrificing scientific correctness and definit eness as the vernacular literature on this subject is still undeveloped. My difficulty has sometimes been particularly intricate, for instance the use of the word शक्ति has become inevitable, and it is for the reader to sift and see that although I have been constrained to use this term freely, I have not been a believer in 'faculty psychology'. A 'faculty psychology' offers easy tools in the hands of the teacher, but for anyone deeping below the surface in order to understand the real basis of mental phenomena, it is misleading. And budding teachers, to my mind, must be kept away from any misleading conceptions. Again, while supporting results deprived from objective experiments, I must confess, I do not believe in the extreme American behaviourism which discards introspection altogether. I believe in taking into account the characteristics of a living organism which enter in a subjective way in all experiments however controlled, hence making it necessary to study all factorial data obtainable from the subject.

The second chapter on certain fundamental ideas may be left out by the reader in the beginning so far as a complete understanding of it is concerned, but he should return to it again to make his views definite I have added two chapters at the end (1) on Intelligence Testing and (2) on Some Intellec-

tual and Emotional Faults and how to meet them. In the Chapter on Intelligence Testing I have mentioned both individual and group tests. So far as the nature of intelligence is concerned, I have only treated Binet's view which is rather inclined towards faculties. I regard the 'electric doctrine' of Spearman as necessary for any complete treatment of the subject, but 'G' is rather unintelligible without the understanding of its mathematical basis which cannot be touched in an elementary book of this nature. I have therefore not mentioned it, but teachers with a set of intelligent pupil teachers may find it profitable to treat it. The last chapter on the faults of conduct, behaviour and intellectual studies, has been added at the suggestion of some of the Head Masters of the Normal Schools. I should wish the material therein to be taken as provoking thought on certain lines with a view to study individual children, rather than as a conglomeration of certain formulae which may be got up to be poured out in an answer paper or blindly applied in the work. To help the pupil teachers to test their comprehension of the salient points a set of useful questions has been appended. Needless to emphasise that they are meant more to aid comprehension than to restrict a candidate's preparation for an examination.

I thank all those who have enlightened me with suggestions from time to time. I am indebted particularly to my friend Pandit Sri Narayan Chaturvedi, M.A., L.T. (Allahabad) M.A. (London), P.E.S., for kindly going through the proof.

ALLAHABAD,
16th April, 32.

B. N. JHA.

भूमिका

भूमिका में इसके लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है कि मनोविज्ञान और शिक्षा-शास्त्र का क्या सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध पाठक को पुस्तक के पढ़ने से पूर्ण-रूप से स्वयं विदित हो जायगा। शिक्षा बालकों के शारीरिक और मानसिक व्यापारों का विकास है। उचित परिस्थिति में इनका विकास होने से हम ऐसे व्यक्ति तैयार कर सकते हैं जो अपना जीवन समाज के लिए उपयोगी बना सकें और उसकी उन्नति करने में सहायक हो सकें। बालक की प्रवृत्तियाँ क्या हैं, उनका किस प्रकार विकास होता है, क्या करने से वे उचित मार्ग में लगाई जा सकती हैं बालक के मानसिक व्यापार क्या हैं, और वह अपने व्यवहार में उनका प्रयोग किस प्रकार करता है,—ये सब बातें अध्यापक को मनोविज्ञान बताता है। इसलिए अध्यापक को इस विषय का जानना बहुत आवश्यक है।

यह पुस्तक नार्मल स्कूल के प्यूपिल टीचरों, अन्य अध्यापकों और शिक्षा-प्रेमियों के लिए लिखी गई है। उनके लिए यह जानना आवश्यक है कि शिक्षा-प्रणाली पर मनोविज्ञान ने वर्तमान काल में क्या प्रभाव डाला है। शिक्षा-प्रणाली के नियम मनोविज्ञान के विचार पर स्थापित हैं। जो नियम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं होता वह उपयोगी नहीं माना जा सकता। शिक्षा के नियमों को केवल जानने से अध्यापक काम तो ठीक कर सकता है, परन्तु इन नियमों का जानना और उनका यंत्रवत् प्रयोग करना उसके लिए पर्याप्त नहीं। अध्यापक को एक वैज्ञानिक मिस्त्री की तरह मनोविज्ञान के नियमों का अध्ययन करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह उनके कारणों का विश्लेषण कर सकने की योग्यता उत्पन्न कर ले। बालक प्राणी है, निर्जीव वस्तु तो है नहीं जिसके साथ यंत्रवत् व्यवहार किया जा सकता हो। तब बालक की मानसिक स्थिति जाने बिना उसके साथ उचित व्यवहार कैसे किया जा सकता है?

पुस्तक में जहाँ तक हो सका है आधुनिक पश्चिमी मनोविज्ञानवेत्ताओं के विचारों को प्रकट किया गया है। पश्चिमी देशों में प्रयोग और क्रियाएँ भी इस विषय में बहुत की जा रही हैं। इन प्रयोगों के उन परिणामों का, जो कि अध्यापक को सहायक हो सकते हैं, जगह जगह उल्लेख किया है।

मनोवैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों के चुनन में कठिनाई उपस्थित हुई है। परन्तु काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा और विज्ञान-परिषद् प्रयाग के कोषों से चुनकर उचित शब्दों का प्रयोग किया गया है। आशा है पाठक को कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होगी।

विषय सोचकर धीरे-धीरे पढ़ने योग्य है। पाठकों को हर बात पर स्वयं विचार करने की आवश्यकता है। यह विषय तोता-रटन्त से कभी नहीं आ सकता। ऐसे विषय के नियमों को समझते हुए मनन करने और उचित उदाहरणों पर विचार करने ही से कुछ लाभ हो सकता है। अगर इस पुस्तक को पढ़कर वर्नाक्यूलर स्कूलों के अध्यापक और दूसरे सज्जन, जो शिक्षा में रुचि रखते हैं, कुछ लाभ उठायेंगे तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

प्रयाग
चैत्र शुक्ल ९, सं० १९८९ } भैरवनाथ झा

—

विषय-सूची

१—मनोविज्ञान और शिक्षा-शास्त्र

I. Psychology and Education

मनोविज्ञान एक ऐसी विद्या है जिसका ज्ञान होना वर्तमान काल में हर एक अध्यापक के लिए आवश्यक है। पठन-पाठन का कार्य प्राचीन काल से बहुत देशों में होता चला आ रहा है। परन्तु मनोविज्ञान के जानने से अध्यापक को अपने कार्य में कितनी सहायता मिल सकती है और कहाँ तक वह उसके कार्य पर प्रभाव डाल सकता है, इस बात पर केवल थोड़े ही वर्षों से पूर्ण रूप से विचार किया जाने लगा है। प्राचीन काल के अध्यापक के लिए जो विद्या—भाषा अथवा गणित, अथवा भूगोल—बालक को सिखाना हो उसी का जानना आवश्यक समझा जाता था। जो पुरुष किसी विद्या में प्रवीण है वह उसे सिखा सकता है। यह कहना कि वर्तमान काल में यह बात सत्य नहीं है ठीक न होगा। परन्तु साथ ही इसके यह भी सम्भव है कि विद्या जानते हुए भी बालक की प्रकृति न जानने के कारण अध्यापक बालक को उत्तम रीति से न पढ़ा सके। लन्दन के एक पुराने प्रोफेसर सर जान ऐडम्स (Sir John Adams) ने, जो अभी जीवित हैं, कहा है कि उस अध्यापक को जो कि स्मिथ नाम के लड़के को लैटिन भाषा सिखाना चाहता है केवल लैटिन् जानना ही आवश्यक नहीं है बल्कि उसे स्मिथ को भी पूर्ण रीति से जानना चाहिए। स्मिथ के जानने से उनका आशय स्मिथ की मनोवृत्ति को जानना है। आज से कई सौ वर्ष हुए, स्विट्जरलैंड (Switzerland) देश में एक महान् अध्यापक हो चुका है जिसका नाम पैस्टालाजी (Pestalozzi) था। उसने पहले पहल इस बात पर जोर दिया कि अध्यापक का मुख्य कर्तव्य है कि वह अपने शिष्यों की मनोवृत्ति को जाने। वह अपने कार्य में तब तक सफलता नहीं प्राप्त

कर सकता जब तक कि उसे इस बात का ज्ञान न हो कि उसके विद्यार्थी की मानसिक स्थिति क्या है, उसका मानसिक विकास किस प्रकार होता है, मस्तिष्क में विचार किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, बालक में मानसिक शक्ति क्या है और शिक्षा के कार्य में उसका कहाँ तक प्रयोग हो सकता है। यह तो कहना सत्य न होगा कि पैस्टालाज़ी के पहले किसी ने इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया था परन्तु यह अवश्य है कि उससे पहले इस बात पर कि मनोविज्ञान अध्यापक के कार्य पर पूरा प्रकाश डाल सकता है, किसी ने पूरा विचार न किया था और न अपने कार्य में उसका प्रयोग ही किया था। इस कारण इस बात का श्रेय उसी को प्रदान किया जाता है। पैस्टालाज़ी इस विद्या का अधिक प्रयोग न कर सका परन्तु उसके पश्चात् जितने शिक्षा-विज्ञान के पण्डित हुए—अर्थात् फ्रिबल, हर्बार्ट, मान्टसोरी, ड्यूई (Frœbel, Herbart, Montessori, Dewey)—उन्होंने उसके भावों को विस्तारपूर्वक फैलाया और मनोविज्ञान का शिक्षा-शास्त्र में पूरा प्रयोग किया। अगर कहीं वह आज जीवित रहता तो उसे वर्तमान स्थिति देखकर बड़ा हर्ष होता। बेचारे पैस्टालाज़ी के लिए बहुत कठिनाइयाँ थीं। मुख्य कारण यह था कि आज से सौ वर्ष पहले मनोविज्ञान के बारे में लोग उतना न जानते थे जितना वर्तमान काल में जानते हैं। ऐसी विद्या का—कि जिसका रूप पूर्ण रीति से स्पष्ट न था, जिसके बारे में वैज्ञानिक लोग यह नहीं निश्चित कर सके थे कि वह विद्या क्या है और उसके उद्देश्य क्या हैं—किसी बात पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ सकता था। मनोविज्ञान ने, केवल थोड़ा ही समय हुआ, एक विज्ञान का रूप धारण किया है और विज्ञानवेत्ता इस बात को निश्चय कर सके हैं कि इस विद्या का अध्ययन किन रीतियों से और क्या उद्देश्य सामने रखकर किया जाय। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनोविज्ञान अभी आरंभिक अवस्था में है। परन्तु थोड़े से ही समय में इस विज्ञान ने इतनी उन्नति की है कि कोई भी विज्ञान, जो कि मनुष्य की मानसिक स्थिति से संबंध रखता है, बिना इस विज्ञान की निश्चित की हुई बातों को प्रयोग में लाये अपना कार्य पूर्ण रूप से नहीं चला सकता। मानसिक मामलों पर जो कल्पनाएँ और विचार प्राचीन काल से चले आ रहे हैं उनका संशोधन किया गया है। मनुष्य और जीव-जन्तुओं पर नाना प्रकार के प्रयोग किये गये हैं

जिनसे उनके मानसिक व्यापारों का पता चले। शिक्षा-शास्त्र पर तो इसने बहुत ही अधिक प्रकाश डाला है। यहाँ तक कि सफलता चाहनेवाले अध्यापक के लिए इसके नियमों का जानना बड़ा आवश्यक हो गया है।

किसी विद्या का प्रयोग करने से पहले इस बात को निश्चय रूप से जानना आवश्यक है कि वह विद्या क्या है और वह हमें क्या बतलाती है। इसलिए अब हम इस बात को देखेंगे कि वर्तमान काल में मनोविज्ञान से हम क्या समझते हैं और इस विज्ञान के मुख्य उद्देश्य क्या हैं।

मनोविज्ञान, जिस रूप में आजकल हम उसे पाते हैं, एक नवीन विद्या है। परन्तु किसी न किसी रूप में वह बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। प्राचीन समय में यह तर्क-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र का एक अंग था। तत्त्वज्ञानियों को इस बात की चिन्ता थी कि वह इस बात का पता लगावें कि आत्मा क्या है। आत्मा और शरीर का क्या सम्बन्ध है? आज से २,००० वर्ष से अधिक पहले यूनान (Greece) देश में प्लेटो (Plato) और उसके उपरांत उसका शिष्य एरिस्टोटल (Aristotle) नामक दो बड़े विख्यात ज्ञानी हो चुके हैं। सच कहा जाय तो इन्होंने ही पश्चिमी देशों में दर्शन-शास्त्र की नींव डाली।

उस समय आत्मा के विषय में जो कुछ भी विचार प्रचलित थे एरिस्टोटल ने उनको एक निश्चित रूप दिया। उसका यह कथन था कि किसी जीव की मुख्य वस्तु आत्मा है। बिना आत्मा के शरीर केवल एक मृत शरीर या लाश के समान है। जीव जो कुछ है और जो कुछ कर सकता है उसका मुख्य कारण उसकी आत्मा है। कुछ समय बीतने पर ज्ञानियों ने यह निश्चित किया कि आत्मा की, जो कि जीव के लिए मुख्य वस्तु है, दो दशाएँ होती हैं। एक वह जो कि मनुष्य को मानसिक शक्ति प्रदान करती है और दूसरी वह जिसके कारण वह धर्म-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मानसिक और धर्म-सम्बन्धी यह दो भेद होते ही मनोविज्ञान मानसिक विज्ञानियों के पास रह गया और दूसरे पर दार्शनिक लोग विचार करने लगे। इस पर विचार होने लगा कि मानसिक शक्ति क्या है और उसका मनुष्य की देह से क्या सम्बन्ध है मानसिक और दैहिक शक्तियाँ जुदी जुदी हैं पर जुदी होते हुए भी एक का प्रभाव दूसरे

पर किस प्रकार पड़ता है। इस मामले पर डेकार्ट (Descartes) नामक एक फ़रासीसी विज्ञान-वेत्ता ने पहले पहल विचार प्रकट किये। उसने मन (Mind) और जड़ पदार्थ (Matter) का भेद स्पष्ट कर दिया। उसने कहा ये दोनों ही पदार्थ हैं और इनमें कोई प्राकृतिक सम्बन्ध नहीं है। जड़ पदार्थ वह पदार्थ है जो कि जगह घेरता है, और मन वह वस्तु है जिसे जगह की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। मन का मुख्य कर्तव्य यह है कि वह मनुष्य को चेतना प्रदान करे। चित्तवृत्ति का मुख्य कारण मन है और मन केवल चित्तवृत्ति के ही रूप में प्रकट होता है। डेकार्ट की इस मीमांसा का यह फल हुआ कि विज्ञान-वेत्ताओं ने उस समय से मनुष्य की चित्तवृत्ति पर विचार करना अपना मुख्य कर्तव्य मान लिया। ज्ञानियों ने चित्तवृत्ति के नाना प्रकार के अर्थ लगाने आरम्भ किये। सबमें सरल उनमें से यह था कि मनुष्य की चित्तवृत्ति उसकी अभिज्ञता है। जब मनुष्य निःस्वप्न घोर निद्रा म होता है उस समय उसमें कुछ चित्तवृत्ति नहीं होती। ज्यों ज्यों निद्रा का प्रभाव उस पर से हटता जाता है और वह जाग्रत होता जाता है त्यों त्यों उसकी चित्तवृत्ति अधिक होती जाती है। चेतना का पता केवल अन्तरावलोकन से लग सकता है। हर एक मनुष्य की चेतना जुदी जुदी है और उसका पता केवल उसी मनुष्य को अन्तरावलोकन से चल सकता है। अपनी चित्तवृत्ति का हाल अन्तरावलोकन से जानकर हम अनुमान कर सकते हैं कि वैसी ही दशा में दूसरे मनुष्य की चित्तवृत्ति ऐसी ही रही होगी या हो सकती है। इस कारण विज्ञानवेत्ताओं ने चेतना के विषय में चिन्तन करना अपना मुख्य कर्तव्य समझा। थोड़ा समय बीतने के उपरांत यह सोचा गया कि मनुष्य जो कुछ काम करता है वह चैतन्य अवस्था ही में करता है। उस समय यह भी सोचा गया कि मनुष्य के सम्मुख जब कोई उत्तेजना प्रकट होती है तभी वह व्यवहार करता है। व्यवहार करते समय उसे चेतना रहती है। अतएव यदि चेतना का पता लगाना है तो उसके व्यवहार को निरीक्षण करने से लग सकता है। इस कारण विज्ञानवेत्ताओं ने मनुष्य के व्यवहार को देखना, उसे समझना और उस पर विचार करना मुख्य कर्त्तव्य ठहराया। इस प्रकार तर्क-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र मे आरम्भ होकर इस विद्या ने अनेक रूप बदले। पहले-पहल आत्म-विद्या हुई, फिर मनोविद्या। उसके उपरान्त चेतनविद्या और फिर मनोव्यवहार

की विद्या। व्यवहार को चेतना का मुख्य स्वरूप मानने से इस विद्या में एक नई बात आ गई। इसके अध्ययन की विधि बदल गई। व्यवहार से हर एक बात का संशोधन करना आरम्भ हो गया। पहले केवल अन्तरावलोकन से ही मनुष्य की चेतना का पता लग सकता था। अब चेतना के व्यवहार रूप में प्रकट हो जाने से सब कठिनाई दूर हो गई। अन्तरावलोकन कोई भी व्यक्ति स्वयं ही कर सकता है परन्तु उसके व्यवहार को दूसरे लोग भी देख सकते हैं। जब मनुष्य के सम्मुख उत्तजना उपस्थित होती है तब वह प्रायः व्यवहार करता ही है, उस व्यवहार से उसकी मनोवृत्ति का पता चल जायगा। इसलिए मनोविज्ञान में प्रयोगशैली का आरम्भ हुआ और मनुष्य तथा जीव-जन्तुओं पर नाना प्रकार के प्रयोग किय जान लग। इन सबका नतीजा यह हुआ कि थोड़े ही समय में इस विद्या नं एक पूर्ण विज्ञान का रूप धारण कर लिया। आज-कल जो प्रयोग किये जा रहे हैं उनसे यह आसानी से पता चल सकता है कि मनोविज्ञान के अध्ययन की रीति रसायन-शास्त्र और भौतिक विज्ञान के अध्ययन की रीति के समान होती जा रही है। मनोविज्ञान रसायन या भौतिक विज्ञान का पूर्ण रूप तो धारण नहीं कर सकता क्योंकि उसमें जड़ वस्तु पर प्रयोग किया जाता है परन्तु मनोविज्ञान में जीवित वस्तु पर। दोनों की तुलना एक आधार पर नहीं की जा सकती। कुछ व्यावहारिक विज्ञानवेत्ताओं का तो, जो कि अन्तरावलोकन के विरुद्ध हैं—जैसे कि वाटसन (Watson), थार्नडाइक (Thorndike), अमरीका में और पावलो (Pavlow), रूस में, यह पक्ष है कि मनोविज्ञान भौतिक विज्ञान इत्यादि के समान है। इन लोगों नं कुत्ते, बिल्ली, चूह, बन्दर इत्यादि जानवरों पर बहुत प्रयोग किय हैं और अनेक कल्पनाएँ उपस्थित की हैं। परन्तु इँगलेंड, स्काटलेंड और जरमनी के मनोविज्ञानवेत्ता व्यवहार को मुख्य मानते हुए भी अन्तरावलोकन पर ध्यान देना उचित समझते हैं।

मनोविज्ञान में व्यवहार पर ज़ोर देने के कारण इस विज्ञान का प्रभाव शिक्षा-शास्त्र के ऊपर बहुत पड़ा है। बच्चों के व्यवहार का निरीक्षण किया गया है और किया जा रहा है। उनकी मनोवृत्ति समझने के लिए उनके ऊपर तरह तरह के प्रयोग कियं गये हैं। इन प्रयोगों से पता चला है कि प्राचीन काल की शिक्षा-प्रणाली में क्या क्या त्रुटियाँ थीं। उन त्रुटियों को दूर करके शिक्षा-

प्रणाली को किस प्रकार संशोधित किया जाय जिससे बच्चों को अच्छी रीति से शिक्षा प्रदान कर सके, यह बात निश्चित की जा रही है। बच्चा किन किन शक्तियों को लेकर संसार में उत्पन्न होता है, उसकी प्राकृतिक शक्तियाँ उसको उसकी परिस्थिति में बढ़ने और उन्नति प्राप्त करने में कहाँ तक सहायता देती हैं, उसका चरित्र इन प्राकृतिक शक्तियों पर कहाँ तक बनाया जा सकता है, शिक्षकों को क्या क्या करना चाहिए जिससे इन शक्तियों का प्रयोग करके बच्चे में उत्तम चरित्र उत्पन्न किया जा सके, बच्चे के जीवन में किस किस समय किन किन शक्तियों का विकास होता है, और किसे अध्यापक को कहाँ तक ध्यान में रखना चाहिए, बच्चे का मानसिक विकास किस प्रकार होता है, रुचि और मानसिक प्रयत्न में क्या सम्बन्ध है---इत्यादि प्रश्नों का उत्तर मनोविज्ञान के लिए देना अब कठिन नहीं है।

२—मनोविज्ञान-सम्बन्धी कुछ मौलिक बातें

II. Some Fundamental Facts

मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षा-शास्त्र के नियम क्या क्या होने चाहिए, इस बात को निश्चय करने से पहले हम कुछ उन मौलिक बातों पर विचार करेंगे जो कि हर एक विद्यार्थी को जाननी चाहिए।

(१) पहली बात जो कि हमें जान लेनी चाहिए वह यह है कि इस विज्ञान में हम एक जीवित जागृत वस्तु के व्यवहार का निरीक्षण करते हैं। भौतिक विज्ञान और रसायन-शास्त्र में हम जड़ वस्तुओं पर प्रयोग करते हैं और उनका निरीक्षण करके हम किसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं। मनोविज्ञान में हम सजीव द्रव्य पर प्रयोग करते हैं। सजीव और निर्जीव वस्तुओं का व्यवहार एक से नियमों के अनुसार नहीं होता है। सजीव वस्तु के साथ हम मनमाना व्यवहार नहीं कर सकते। उसकी रुचि का हमें पूरा ध्यान रखना पड़ेगा। जैसा कि कहा जाता है—कि घोड़े को तालाब पर ले जाना सरल है परन्तु उसे पानी पिलाना किसी की शक्ति में नहीं है। सजीव वस्तु के सामने हम उत्तेजना प्रकट कर सकते हैं। पर यह आवश्यक नहीं है कि उस उत्तेजना पर वह व्यवहार करे ही। मुख्य बात तो यह है कि व्यवहार करने के लिए उसकी रुचि होनी चाहिए। व्यवहार का मुख्य कारण रुचि है। उत्तेजना तो उस रुचि के लिए मार्ग दिखाती है। केवल उत्तेजना ही का होना व्यवहार के लिए पर्याप्त नहीं है। सजीव वस्तु की विशेषता यह है कि वह व्यवहार में स्वतंत्र है। वह केवल बाहरी उत्तेजना का नौकर नहीं है। व्यवहार के लिए मन के भीतर से आज्ञा मिलती है। सजीव शरीर में आन्तरिक अभिप्राय होता है जो कि उसके व्यवहार का मुख्य कारण होता है। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि मनुष्य और अन्य जीवों में कौन कौन-सी भीतरी अभिप्राय या प्रेरणा हैं जिनके कारण वे व्यवहार करते हैं। सजीव के व्यवहार में स्वतन्त्रता होने का एक प्रमाण यह भी है कि एक ही व्यक्ति वही उत्तेजना अलग अलग समय पर उपस्थित होने से जुदे जुदे प्रकार का

व्यवहार करता है। यह आवश्यक नहीं है कि एक उत्तेजना के लिए सदा ही एक प्रकार का व्यवहार हो। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि सजीव का व्यवहार स्वतन्त्र होने के कारण बिलकुल अनियमित है। अगर व्यवहार के लिए कोई शास्त्र और नियम न हो तो मनोविज्ञान का विज्ञान होने का दावा करना मिथ्या होगा। व्यवहार कुछ नियमानुसार अवश्य होता है पर यह नियम आत्मगत है।

(२) दूसरा प्रश्न यह है कि चेतना, जिसका कि पता व्यवहार से चलता है, क्या वस्तु है। मनोविज्ञान का मुख्य कर्त्तव्य मनुष्य की मानसिक शक्तियों को मानसिक व्यवहार-द्वारा समझना है। भौतिक व्यवहार और भौतिक शक्तियों का जानना उसका मुख्य उद्देश्य नहीं है। इससे यह न समझना चाहिए कि मनोविज्ञानवेत्ता भौतिक अवस्थाओं पर ध्यान नहीं देता। परन्तु वह मनुष्य के जो कुछ भौतिक व्यवहार का प्रयोग करता है वह केवल उसके मानसिक व्यवहार के समझने के लिए। मानसिक और दैहिक व्यवहार का ठीक-ठीक सम्बन्ध क्या है इसका पूरा पता अभी तक नहीं चल सका। अभी यह एक समस्या ही है। यह केवल मान लिया गया है कि यदि किसी व्यवहार का मानसिक और दैहिक अङ्गों में विश्लेषण किया जाय तो इन दोनों अंगों का सम्बन्ध यही है कि वे एक दूसरे के कारण नहीं हैं बल्कि एक दूसरे के समानान्तर चलते हैं। मानसिक और भौतिक का भेद बताना आवश्यक नहीं है। भौतिक अवस्थाएँ जैसे लम्बाई, चौड़ाई, गरमाई, ठण्डक, बढ़ना, घटना, यह सब अलग अलग नापों से नापी जा सकती हैं। भौतिक वस्तु अन्तरिक्ष अथवा आकाश में रक्खी जा सकती है। परन्तु मानसिक अवस्थाओं जैसे विचार, रुचि, भाव इत्यादि का भौतिक की तरह नापना सम्भव नहीं है।

चेतना एक मानसिक स्थिति है। बहुतेरे विज्ञानवेत्ताओं ने इसे सावधानता कहा है। हम जब जागते रहते हैं और कभी कभी जब सोते रहते हैं तब भीमें हममें चेतना रहती है। हमारे मन में कुछ न कुछ सोच-विचार होता ही रहता है। हममें और स्थूल में यह भेद है कि हमारे मन में इच्छा, स्मरण, क्षोभ कुछ न कुछ च[illegible] ही करते हैं। स्टाउट (Stout) का यह कहना है कि केवल उस समय को छोड़कर जब कि हम निःस्वप्न निद्रा सोते रहते हैं सर्वदा हमारे मन

कुछ न कुछ चेतना रहती ही है। जम्स (James) ने इस चेतना की उपमा एक नदी से दी है। जैसे नदी का प्रवाह बरावर अनवच्छिन्न रूप से होता रहता है वैसे ही चेतना का भी। ऐसा नहीं होता कि मन में एक वृत्ति आ गई वह चली, फिर समाप्त हो गई, फिर मन शून्य रहा, और कुछ समय बीतने पर दूसरी वृत्ति आई। परन्तु एक वृत्ति के रहते ही उसमें कुछ परिवर्तन हो दूसरी वृत्ति वन जाती है। प्रवाह नदी की तरह लगातार चलता रहता है। हाँ, यह अवश्य है कि एक वृत्ति एक समय ध्यान के सामने रहती है और चेतना-प्रवाह का अन्य सव भाग कहीं गुप्त रहता है। थोड़ी देर में वृत्ति गुप्त स्थान से ध्यान में आ जाती है और ध्यानवाली वृत्ति खिसककर गुप्त स्थान में चली जाती है। जेम्स न चेतना-प्रवाह के विषय में कुछ नियम नियुक्त किये हैं। वर्तमान काल में वे सब माने जाते हैं या नहीं इस बात के समझाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ कुछ का वर्णन करना पर्याप्त होगा। एक लक्षण तो यह है कि चेतना की वृत्ति जो कुछ होगी वह किसी न किसी व्यक्ति की अवश्य होगी। ऐसा असम्भव है कि वृत्तियाँ मन से बाहर इधर-उधर मारी मारी फिरें। दूसरी बात यह है कि सब प्राणियों की मनोवृत्तियाँ एक नहीं होती हैं। आपकी मनोवृत्तियाँ आपके मन में हैं—मेरी मेरे मन में। यह हो सकता है कि एक उत्तेजना होने के कारण मनोवृत्तियों में कुछ समानता हो परन्तु वे पूर्ण रूप में एक-सी नहीं हो सकतीं।

हमारे व्यवहार का रूप मुख्य रीति से हमारी चेतना ही पर निर्भर है। हम उन्हीं मनोवृत्तियों का रूप व्यवहार में देखते हैं जो चेतना-प्रवाह में आती हैं। प्राचीन काल में यही समझा जाता था कि मनुष्य का व्यवहार केवल इस चेतना ही पर निर्भर है, परन्तु व्यवहार का पूर्ण विश्लेषण करने से अब ऐसा विदित होता है कि कुछ अचैतित वृत्तियाँ भी, जिनकी चेतना हमें बिलकुल नहीं होती, हमारे व्यवहार पर प्रभाव डालती हैं। फ्राएड (Frued) और यूंग (Jung) ने स्वप्न, छाया इत्यादि का विश्लेषण किया है और उन्होंने अचैतित वृत्तियों के प्रभाव को बड़ा महत्त्व दिया है। इस मामले पर विज्ञानवेत्ताओं में अभी बहुत कुछ मतभेद भी है।

(३) तीसरी बात जो जानने योग्य है वह है संस्थान का संक्षिप्त हाल। हमारे शरीर में कई संस्थान अथवा मंडल हैं जो कि मशीन के भिन्न भिन्न अंगों

के समान हमारे शरीर की वृद्धि के लिए पृथक् पृथक् काम करते हैं। वात-संस्थान वह संस्थान है जो कि हमारे प्रतिक्रियात्मक तथा ऐच्छिक वा कृतपूर्व कार्यों को विधिवत् चलाता है। इसके तीन मुख्य विभाग हैं—(१) वात-नाड़ियाँ (Nerves), (२) सुषुम्ना (Spinal cord), (३) मस्तिष्क (Brain)। वात-नाड़ियाँ मस्तिष्क तथा सुषुम्ना से शरीर के दूर-दूर के भागों को जाती हैं। वे पतले लम्बे रेशे अथवा तारों के समान होती हैं। बड़ी बड़ी नाड़ियों में बहुत-से रेशों का एक बंडल होता है। हर नाड़ी के भीतर एक तार होता है जिसे एक्सन (Axon) कहते हैं। यह नाड़ी की पूरी लम्बाई में होता है। नाड़ियाँ शरीर में तार भेजने का काम करती हैं। नाड़ियाँ दो प्रकार की होती हैं। एक वह जो कि शरीर से सुषुम्ना तथा मस्तिष्क को खबर ले जाती हैं। इन्हें केन्द्रगामी (Afferent) ड़ियाँ कहते हैं। दूसरी वह जो कि मस्तिष्क तथा सुषुम्ना से आज्ञा भेजती हैं कि शरीर के जिस अंग से खबर आई है उसको क्या करना है। इन्हें केन्द्रत्यागी (Efferent) नाड़ियाँ कहते हैं। सुषुम्ना एक मोटी नाड़ी रूप की वस्तु है जो कशेरू की नली (Spinal canal) में रहती है। रीढ़ की हड्डी जितनी लम्बी होती है उतनी ही उसके भीतर की नली। सुषुम्ना उसके भीतर नीचे के हिस्से में कमर तक और ऊपर के हिस्से में मस्तिष्क तक फैली हुई होती है। यह कशेरू नाड़ी सफेद और भूरे रंग के मसाले से बनी होती है। सफेद मसाला बिलकुल शरीर की दूसरी नाड़ियों के समान दिखाई पड़ता है। भूरे मसाले में भी नाड़ियाँ होती हैं पर उनमें वात-कोष्ठ (Nerve cells) होते हैं। वात-कोष्ठ अथवा वातसैल बनावट में मामूली सैल के समान ही होती है यानी इनमें प्रोटोप्लाज्म (Protoplasm) अथवा जीवनमूल होता है, और बीच में चैतन्य केन्द्र (Nucleus) होता है। वातसैल में विशेष बात यह होती है कि उसमें से एक निकला हुआ हिस्सा नाड़ी में चला जाता है। नाड़ियों के बीच का डोरा, जिसे हम एक्सन कह चुके हैं, सैल में से निकली हुई लम्बी डोरी होती है। हर एक एक्सन को हम किसी न किसी सैल तक पहुँचता पा सकते हैं।

मस्तिष्क के चार भाग होते हैं—बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum), लघु-मस्तिष्क (Cerebellum), सुषुम्नाशीर्षक (Medulla Oblongata) और सेतु (Pons)। सुषुम्नाशीर्षक सुषुम्ना का ऊपरी मोटा भाग समझना चाहिए

जो कि सुषुम्ना को मस्तिष्क से मिलाता है। लघु मस्तिष्क उसके ऊपर के भाग को कहते हैं जो कि वृहत् मस्तिष्क के नीचे होता है। इसके बीच में एक गहरी दरार होती है जो कि इसे दो दहिने और बाएँ भाग में बाँटती है। इसका सारा धरातल खिचा हुआ नहीं होता, उसमें वहुत-से परत रहते हैं। सेतु उन नाड़ी-सूत्रों से वना होता है जो कि लघु मस्तिष्क के दोनों भागों को मिलाते हैं। वृहत् मस्तिष्क मस्तिष्क का मुख्य और सबसे बड़ा भाग होता है। यह वह बड़ा लोंदा है जो कि सबसे ऊपर खोपड़ी के भीतर रक्खा रहता है। इसके भी दो विभाग ह जो कि दहिने और बाएं भाग कहलाते हैं। इसके सारे धरातल में बहुत-से परत होते हैं। परतों के सिवाय सारे धरातल में दरारें होती हैं। जैसे सुषुम्ना में सफेद और भूरे दो प्रकार के मसाले पाये जाते हैं वैसे ही मस्तिष्क में भी यं दो मसाले होते हैं। सुषुम्ना का भूरा मसाला मस्तिष्क तक फैलता हुआ पहुँच जाता है। सुषुम्ना-शीर्षक में भूरा मसाला सुषुम्ना से वहुत अधिक होता है। वृहत् मस्तिष्क का सारा धरातल भूरे मसाले से ढका हुआ रहता है—केवल ऊपर की सतह ही नहीं, बल्कि सारी दरारें और परत इससे ढके रहते हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि मस्तिष्क के ऊपर एक वेष्टन (चादर) होता है। इस चादर को वल्क (Cortex) कहते हैं। इस भूरे मसाले यानी वल्क चादर पर सारे सैल्स बिछे रहते हैं और उनमें से निकले हुए गुच्छलों से मिलकर सैल्स का एक जाल-सा बन जाता है। मस्तिष्क का सबसे उच्च कार्य इन्हीं वातकोष्ठों की आज्ञा से होता है। इन सैल्स की गणना करना कठिन है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मनुष्य के मस्तिष्क पर करीब करीब तीन अरब सैल्स होंगे। मस्तिष्क पर इतनी दरारें हैं कि अगर उस चादर वल्क को खोलकर फैलाया जावे तो उसका क्षेत्रफल बहुत बड़ा होगा। अधिक दरारें होने ही के कारण इतने अधिक सैल्स इसके ऊपर रहते हैं। जितना चतुर प्राणी होता है उतनी ही अधिक दरारें उसके मस्तिष्क पर होती हैं। बंदर और वनमानुष के मस्तिष्क पर बहुत कम दरारें होती हैं और मनुष्य की अपेक्षा उसके मस्तिष्क का आकार भी छोटा होता है। सुअर के मस्तिष्क पर दरारें होती हीं नहीं, मनुष्य का भेजा तौल में प्रायः १॥ सेर होता है।

अब हम वात संस्थान के कार्य पर विचार करेंगे। सुषुम्ना का मुख्य कर्तव्य प्रतिक्रियात्मक काम (Reflex action) को नियंत्रण करना है। प्रतिक्रियात्मक काम के उदाहरण ये हैं। जब कोई गरम या ठंडी वस्तु हाथ से लगे तो हाथ को हटा लेना, जब पैर के तलुए पर गुदगुदी की जाय तब पैर को हटा लेना, जब कोई वस्तु आँख की ओर फेंकी जाय या कोई फेंकने की चेष्टा करे तब पलकों को बन्द कर लेना, खाँसना, निगलना इत्यादि। अब हम यह देखेंगे कि यह प्रतिक्रियात्मक काम किस प्रकार वातमंडल के आज्ञानुसार होते हैं। पहला उदाहरण लीजिए। इसमें पहली बात तो यह होती है कि हमारी खाल से गरमी या ठंडक का समाचार एक केन्द्रगामी नाड़ी-द्वारा सुषुम्ना को पहुँचाता है। फिर वह संदेश सुषुम्ना के उस भाग में पहुँचता है जिसे हम भूरा मसाला कह आये हैं। यहीं के नाड़ी-कोष्ठ से कार्य करने की आज्ञा मिल सकती है। वहाँ से एक केन्द्रत्यागी नाड़ी के द्वारा पेशी (Muscle) को आज्ञा मिलती है कि तुम सिकुड़ जाओ। पेशी के सिकुड़ने से हाथ हट जाता है। यह आवश्यक नहीं कि हर एक प्रतिक्रियात्मक काम में हाथ पैर हटें अथवा चलें। ऐसे भी प्रतिक्रियात्मक कार्य हो सकते हैं जिनमें इस प्रकार की गति न हो, जैसे कोई स्वादिष्ट वस्तु के देखने से मुंह में पानी भर आना अथवा क्रोध या गरमी के मारे मुह लाल हो जाना।

जिन प्रतिक्रियात्मक कार्यों का उदाहरण हम दे आये हैं उन्हें प्राणी जन्म से करने लगता है—उनके सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु बहुत-सी क्रियाएँ ऐसी हैं जिन्हें हमें सीखना पड़ता है और सीख लेने के उपरान्त उन्हें हम उसी सुगमता से और बिना सोचे-विचारे वैसे ही कर सकते हैं जैसे कि प्रतिक्रियात्मक कार्यों को। नाचना, साइकिल चलाना, बुनना इत्यादि ऐसे कामों के उदाहरण हैं। साइकिल चलाते समय मनुष्य को पैर चलाने इत्यादि के लिए सोचना नहीं पड़ता। लड़कियों को बुनते समय सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे बुनने के साथ साथ बात कर सकती हैं और दूसरी बात पर ध्यान दे सकती हैं पर उनकी उँगलियाँ सुइयों को ठीक चलाती जाती हैं। हाँ, साइकिल चलानेवाले के सामने कहीं पत्थर आ जाय या बुनने में लड़की को कहीं अटकना पड़ जाय तो बात दूसरी हो जायगी। ऐसी क्रियाओं को,

जो सीखने के उपरान्त प्रतिक्रियात्मक रूप से होने लगती हैं, हम सीखी हुई या अर्जित प्रतिक्रिया (Acquired reflex) कहेंगे।

सुषुम्ना-शीर्षक, जो मस्तिष्क का ही भाग माना जाता है, कार्य की दृष्टि से सुषुम्ना के ही समान है। जो इसमें भूरा मसाला होता है उसे सुषुम्ना के भूरे मसाले का ही फैला हुआ भाग समझना चाहिए। इस कारण जो उस पर कोष्ठ होते हैं वे विशेष प्रतिक्रियाओं का नियन्त्रण करते हैं। आँखों के बन्द करने, चबाने, खाँसने और हृदय की गति का नियन्त्रण इन्हीं से होता है।

लघु मस्तिष्क देखने में बहुत बड़ा मालूम होता है और इसलिए उसका कार्य भी महान् होना चाहिए। सच बात तो यह है कि इसका पूरा पूरा कार्य क्या है इसे निश्चय रूप से विज्ञानवेत्ता अभी नहीं जान सके। परन्तु यह निश्चय अवश्य है कि इसका कार्य शरीर को साधना है। जब किसी मनुष्य के लघु मस्तिष्क पर फोड़ा इत्यादि हो जाता है तो ऐसा पाया गया है कि वह अपने शरीर को साधकर नहीं चल सकता बल्कि लड़खड़ाने लगता है।

हम पहले कह आये हैं कि जितने उच्च कोटि के कर्तव्य मनुष्य करता है उनके लिए उसे वृहत् मस्तिष्क से आज्ञा मिलती है। देखना, सुनना, सूंघना, स्वाद का पता लगाना, बोलना, सोच-विचार करना इत्यादि ये सब वृहत् मस्तिष्क की आज्ञा से होते हैं। इन सबके वास्ते आज्ञा देने के लिए

वल्क पर केन्द्र मौजूद हैं। बृहत् मस्तिष्क में किसी प्रकार की त्रुटि होने से इन सब कार्यों में विघ्न और बाधा पड़ सकती है।— वल्क के पृथक् पृथक् भाग पृथक् पृथक् कार्यों के लिए नियत हैं। आगे दिये हुए चित्र में मुख्य केन्द्र दिखाये गये हैं। वल्क का बहुत-सा भाग खाली छोड़ दिया गया है। उसमें किसी कार्य का नाम नहीं लिखा। यह भाग कुल क्षेत्रफल काप्रायः $\frac{2}{3}$ भाग है। इस पर कार्यों के नाम निश्चय रूप से नहीं बताये जा

सकते। पर यह समझा जाता है कि यही वह स्थान है जहाँ से मनुष्य की सारी मानसिक कारंवाई की जाती है। मनोविज्ञानवेत्ता इन्हें सहचार (Association) का स्थल कहते हैं।

मस्तिष्क का कार्य समझने के लिए जानवरों के और बीमार मनुष्यों के मस्तिष्क पर प्रयोग किये गये हैं। इन प्रयागों से बहुत-सी बातों का पता चला है। अगर वल्क के किसी भाग पर विजली का प्रवाह पहुँचाया जाय तो शरीर के किसी न किसी अङ्ग में गति होगी। मान लो कि वल्क के उस भाग पर, जिस पर हमने 'भुजा' नाम लिखा है, विजली का प्रवाह दौड़ाया जाय तो हाथ किसी प्रकार हिलेगा। अगर किसी प्रकार वह हाथवाला भाग मस्तिष्क को किसी बीमारी के कारण खराब हो जाय तो हाथ में लकवा मार जायगा और मनुष्य हाथ होते हुए भी उसे हिला न सकेगा। अगर वल्क में बोलने के स्थान पर किसी प्रकार का आघात हो जाय तो वह गूंगा हो जायगा। लिख सकेगा परन्तु बोल न सकेगा। एक विचित्र बात यह भी है कि मस्तिष्क के दाहिने भाग पर के केन्द्र पर कोई क्रिया की जाय तो उसका प्रभाव दाहिने अङ्ग पर नहीं किन्तु बायें अङ्ग पर पड़ता है। वल्क के बायें भाग पर के हाथवाले स्थान पर खराबी होने से दाहिना हाथ काम न करेगा। मस्तिष्क की क्रिया को समझने से यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि शरीर का मुख्य कर्ता-धर्ता मस्तिष्क है। हमारे आँखें हैं। पर आँखें नहीं देखतीं—देखता है मस्तिष्क। हम यह कह सकते हैं कि मस्तिष्क आँखों के द्वारा देखता है। यही दूसरे सब अङ्गों का हाल है। मस्तिष्क का स्वस्थ और नीरोग रहना बहुत आवश्यक है। ईश्वर ने इसी लिए उसे एक पुष्ट सन्दूक के भीतर रक्खा है।

बच्चों और बड़ों के वातमंडल में थोड़ा सा अन्तर है। मुख्य अन्तर उनके मस्तिष्क में होता है। बच्चे का सिर कुल शरीर की तुलना में सयाने पुरुष के सिर से बड़ा होता है। यदि केवल सिर का ही मुकाबला किया जाय तो आदमी का सिर बच्चे के सिर से बड़ा निकलेगा, परन्तु यदि शरीर के लिहाज़ से, देखा जाय तो बच्चे का सिर बड़ा मानना होगा। यही हाल मस्तिष्क का है। बचपन में मस्तिष्क बड़ी जल्दी बढ़ता है। पहले ९ महीने में कुल

वृद्धि का ⅓ भाग बढ़ता है फिर दूसरा ⅓ भाग ३ वर्ष की आयु तक बढ़ जाता है और बाकी ८ अथवा ९ वर्ष तक पूरा होता है। बच्चे के बढ़ने के साथ मस्तिष्क केवल बड़ा ही नहीं होता किन्तु उसकी बनावट में भी कुछ अन्तर पड़ता जाता है। वातकोष्ठ की संख्या में वृद्धि नहीं होती। वे तो बचपन में उतने ही रहते हैं जितने बड़े होने पर। परन्तु बचपन में उनसे पुछल्ले बहुत ही थोड़े ही निकले होते हैं और एक कोष्ठ के पुछल्ले दूसरे से कम मिले रहते हैं। हम पहले कह आये हैं कि सैल्स से निकले पुछल्ले बहुत होते हैं और एक दूसरे से मिलकर एक जाल-सा बना देते हैं। जो कुछ बच्चा सीखता है—जैसे चलना, दौड़ना, बोलना—उन सबसे पुछल्लों में वृद्धि होती है। चाहे लिखने का हो, चाहे सोचने विचारने का हो, जो कुछ भी नया काम वह सीखता है उन सबसे मस्तिष्क पर के कोष्ठों के पुछल्लों की वृद्धि होती है और वे मिलकर अधिकाधिक जाल बनाते जाते हैं। मनुष्य को परमात्मा ने यह भारी शकित दी है कि क्रिया करने से उसके मस्तिष्क की करीब करीब इस प्रकार वृद्धि हो। बन्दर और मनुष्य के हाथों की बनावट एक-सी है। कुछ अन्तर अवश्य है परन्तु बहुत थोड़ा। मुख्य अन्तर इस बात में है कि मनुष्य बड़ा भारी खिलाड़ी बन सकता है पर बन्दर नहीं बन सकता, यद्यपि दोनों के हाथ प्रायः एक-से हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य के मस्तिष्क पर के कोष्ठ में से नये नये पुछल्ले निकल सकते हैं और एक दूसरे से मिलकर आपस में असर डाल सकते हैं किन्तु बन्दर के मस्तिष्क में यह नहीं हो सकता।

३—परम्परा और प्रतिवेश (सहवास)

III. Heredity and Environment

मनुष्य में जो कुछ मानसिक और दैहिक शक्तियाँ हैं वे उसे परम्परा (वंश-परम्परा या बीज-परम्परा) और प्रतिवेश से मिली हैं। अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि मनुष्य की इन शक्तियों के बनाने में इन दोनों में किसको कितना श्रेय है। अगर परम्परा को ही सब कुछ मान लिया जाय तो शिक्षा की कोई आवश्यकता जान ही नहीं पड़ती, और जो प्रतिवेश ही सब कुछ हो तो जिस व्यक्ति को हम जैसा चाहें वैसा ही बना सकते हैं। वास्तव में, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, मनुष्य की मानसिक तथा दैहिक वृद्धि में इन दोनों बातों का भाग होता है और अध्यापक को दोनों पर पूरा ध्यान देने की आवश्यकता रहती है।

शिक्षा देने के लिए अध्यापक के सामने बालक उपस्थित किया जाता है। अध्यापक को यह जानने की आवश्यकता है कि बच्चे का मन कैसा है। उसकी शक्तियाँ क्या क्या हैं और उनका वह क्या क्या प्रयोग कर सकता है? क्या बालक का मन एक शून्य पात्र के समान है जिसमें अध्यापक जो चाहे भर दे? अथवा वह स्वच्छ श्यामपट्ट या सिलेट जैसा है जिस पर वह जो चाहे लिख दे? क्या बच्चे का मन बुरी प्रवृत्तियों से भरा है जिनका नियंत्रण न करने से बच्चा दुराचारी हो जायगा? अथवा वह इतना गुण-सम्पन्न है कि अध्यापक को उसे प्रतिवेश में जो बातें हैं उनसे दूर रखना चाहिए जिसमें वह बुरी बातों से बचा रहे?

जीवन-शास्त्र के विज्ञानवेत्ताओं ने इस मामले पर बहुत चिंतन किया है और इस बात के जानने के लिए कि परम्परा से हमें क्या मिलता है, उन्होंने जानवरों और मनुष्यों पर बहुत-से प्रयोग किये हैं। उनका यह मत है कि हमारे पास जितनी मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ हैं वे हमें परम्परा से मिली हैं। मन इस संसार में एक शून्य पात्र के समान नहीं उत्पन्न होता है। सब लोगों की शक्तियाँ एक-सी नहीं होती हैं। शिक्षा और प्रतिवेश का प्रभाव पड़ने से पहले ही यह निश्चय हो जाता है कि हमारी शक्ति कहाँ तक दौड़ सकती है। हाँ, यह अवश्य है कि प्रतिवेशरूपी संसार न हो तो

हमारी शक्तियों के लिए प्रयोग करने को कोई अवसर ही न मिले। परम्परा से पाई हुई शक्तियों का विकास केवल प्रतिवेश में ही हो सकता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से परम्परा के दो नियम मुख्य माने जाते हैं। पहला तो यह है कि जैसे माँ-बाप होते हैं वैसी ही उनकी सन्तान उत्पन्न होती है। एक जाति के जानवर दूसरी जाति के बच्चे नहीं उत्पन्न कर सकते। इसके उपरान्त यह भी सत्य है कि लम्बे माँ-बाप के अधिकतर लम्बे बाल-बच्चे होते हैं। कालों के काले, भूरे बालवालों के भूरे बालवाले इत्यादि इत्यादि। गाल्टन (Galton) और वैजमेन (Weismann) का यह अनुमान है कि उन सैल्स में जो कि सन्तान उत्पत्ति के काम में आते हैं कुछ अंश ऐसा होता है जो सन्तान के शरीर में ज्यों का त्यों बना रहता है और जब वह सन्तान उत्पन्न करता है तब काम आता है। उसकी सन्तान में वह ज्यों का त्यों फिर पहुँचा दिया जाता है और इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है।

परम्परा के पहले नियम के लिए हमें उदाहरण ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। किसी वंश की वंशावली पर ध्यान दें तो यह सिद्ध हो जायगा कि जैसे माता-पिता होते हैं वैसी ही सन्तान होती है। कार्ल पीयर्सन (Karl Pearson) ने वेजउड—डारविन-गाल्टन (Wedgewood—Darwin—Galton) नाम के प्रख्यात वंश के १००० वर्ष तक के इतिहास की खोज की और उससे यह निष्कर्ष निकाला कि विज्ञानवेत्ताओं के इस वंश के लोग ५ पीढ़ी तक बराबर विज्ञान में सदा ऊँची ऊँची पदवी पर पहुँचते रहे हैं। दूसरा कोई ऐसा वंश नहीं जिसमें से इतने एफ० आर० एस० (F. R. S.) चुने गये हों जितने इस वंश से। इसी प्रकार जूक्स (Jukes) नाम का अमरीका में एक वंश है। विज्ञानवेत्ताओं ने इस वंश के कई सौ वर्ष तक के इतिहास का पता लगाया है। डारविन वंश जैसा प्रतापशाली रहा है, जूक्स का वंश वैसा ही लुच्चे और बदमाशों का वंश रहा है। यह वंश नीचों ही से आरम्भ हुआ, नीचों में ही उनके विवाह इत्यादि होते रहे और इसमें नीच ही उत्पन्न होते रहे।

परम्परा का यह नियम है कि जैसे की सन्तान वैसी ही होती है इतना

प्रत्यक्ष है कि इससे कोई अधिक प्रमाण की आवश्यकता नहीं। इसके जैसे उदाहरण ऊपर बतलाये गये हैं वैसे और भी मिल सकते हैं। एक बात देखने में और आती है। वह यह कि सन्तान और माँ-बाप के एक से होते हुए भी उनके बिलकुल समान होने में कुछ कमी रह जाती है। दोनों बिलकुल एक-से नहीं होते। सगे भाइयों और बहनों में भी थोड़ा अन्तर होता है। कभी कभी अन्तर बहुत हो जाता है। साँवले माँ-बाप के गोरे रङ्ग की सन्तान हो जाती है या उनकी आँखों या बालों के रङ्ग में बड़ा भेद दिखलाई देता है। ऐसे उदाहरण थोड़े ही हैं। परन्तु माता-पिता और उनकी सन्तान का बिलकुल एक-सा न होना तो मामूली बात है। इसी बात पर सोच-विचार करके परम्परा का दूसरा नियम निकाला गया है। जैसी की तैसी सन्तान होते हुए भी कुछ अन्तर अवश्य होता है। यह भेद भी कुछ निर्धारित नियमों के अनुसार ही होता है। इस बात पर मेण्डल (Mendel) ने बहुत-से प्रयोग किये हैं। उसने लम्बे और नाटे मटर का गर्भाधान कराया और यह पता लगाया कि पीढ़ी दर पीढ़ी में कितनी कितनी लम्बी और कितनी कितनी नाटी सन्तान उत्पन्न होती हैं। पहली पीढ़ी में मान लीजिए कुछ लम्बी हुई और कुछ नाटी। मेण्डल ने इन दोगले लम्बे और नाटों को जुदा जुदा करके लम्बों में और नाटों में अलग अलग आपस में गर्भाधान कराया। ऐसा करने से उसे यह पता लगा कि दोगले लम्बे केवल लम्बी जाति ही नहीं उत्पन्न करते बल्कि कुछ लम्बी और कुछ नाटी जाति उत्पन्न करते हैं। २५ फ़ी सैकड़ा तो लम्बी शुद्ध जाति के उत्पन्न होते हैं। शुद्ध से यह अर्थ समझना चाहिए कि वे आगे चलकर सदा लम्बे ही उत्पन्न करते हैं। २५ फ़ी सैकड़ा शुद्ध नाटे उत्पन्न करते हैं। यह आगे चलकर केवल नाटे ही नाटे उत्पन्न करते हैं। ५० फ़ी सैकड़ा मिश्रित लम्बे उत्पन्न करते हैं। मिश्रित का अर्थ यह है कि वे लम्बे होते हुए भी आगे चलकर अपने दोगले माँ-बाप की तरह कुछ लम्बे, कुछ नाटे और कुछ मिश्रित लम्बे उत्पन्न करते हैं। यदि दोगले नाटों का आपस में गर्भाधान कराया जाय तो उनकी भी वंशवृद्धि इसी प्रकार चलेगी। जानवरों पर भी प्रयोग किये गये हैं और उनमें भी मटरों की तरह मेंडिलिजम (अर्थात् मेंडल

के परम्परा-सम्बन्धी नियमों) का प्रभाव प्रतीत हुआ है। मेंडिलिजम से हमें इस बात का कुछ पता चलता है कि सन्तान में माँ-बाप से थोड़ा-बहुत भेद किस कारण हो जाता है। यह तो निश्चय है कि सब सन्तान का एक-सा होना अथवा सबका बिलकुल माता-पिता का-सा होना सम्भव नहीं है। परन्तु जो अन्तर होते हैं वे विज्ञान के नियमानुसार होते हैं—अनिमित या मनमाने नहीं होते। कौन-सा अन्तर किस कारण आया, इसका पता लगाने के लिए पहले की सारी पीढ़ियों का ज्ञान होना चाहिए।

ऊपर की बातों से यह प्रतीत होता है कि हम जो कुछ हैं और जैसे भी हैं—अर्थात् अपने बड़ों से मिलते जुलते या उनसे पृथक् हैं—वैसे हम परम्परा ही के कारण हैं। मुख्य कारण परम्परा है। जन्म के समय ही हमारे लिए परम्परा के नियमानुसार यह निश्चय हो जाता है कि हम कैसे हैं और कैसे होनेवाले हैं। जन्मते ही यह निश्चय हो जाता है कि बच्चा साँवला होगा या गोरा, उसकी आँखें काली होंगी अथवा भूरी, वह लम्बा होगा या नाटा, उसकी बुद्धि तीव्र होगी अथवा मन्द। कहा ही जाता है कि पूत के लक्षण पालने में ही देखे जाते हैं। इस सबका अर्थ तो यह हुआ कि परम्परा बच्चे के लिए सब कुछ निश्चय कर देती है। प्रतिवेश का उस पर कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ सकता। जो प्रतिवेश का प्रभाव कुछ नहीं पड़ सकता तो शिक्षा देना न देना बराबर होगा क्योंकि शिक्षा चाहे कितनी ही उत्तम क्यों न हो गधे को मनुष्य नहीं बना सकती। यदि वास्तव में स्थिति ऐसी ही होती तो आध्यापक को अवश्य हताश कर देती।

प्रतिवेश के प्रभाव को समझने के लिए हम एक उदाहरण लेंगे जिससे यह प्रमाणित हो जायगा कि प्रतिवेश का महत्त्व भी बड़ा भारी होता है। मान लिया जाय कि कुछ बच्चे, जो कि हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानी माँ-बाप से पैदा हुए हैं, लिये जायँ और पैदा होने के बाद तुरन्त ही विलायत भेज दिये जायँ। और इसी प्रकार कुछ अँगरेज़ बच्चे पैदा होने के उपरान्त ही विलायत से लाकर हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानी संरक्षकों के घर में रख दिये जायँ। यदि १०,१५ वर्ष के उपरान्त दोनों जाति के बच्चों को देखा जाय तो पता लगेगा कि प्रतिवेश क्या करने की शक्ति रखता है। हिन्दुस्तानी

बच्चे, जो कि विलायत में पाले गये हैं, अपने देशी भाइयों से किन बातों में मिलेंगे और किन बातों में पृथक् होंगे। और इसी प्रकार अँगरेजी बच्चों का क्या हाल होगा, इस बात को जानने की पूर्ण रूप से चेष्टा करनी चाहिए। हिन्दुस्तानी बच्चे जैसे साँवले रङ्ग के होने चाहिए वैसे ही रहेंगे। जितने लम्बे वा नाटे परम्परा के नियमानुसार होन चाहिए उतने ही होंगे। परन्तु अन्तर यह होगा कि वे अँगरेजी भाषा का प्रयोग अपनी मातृभाषा की तरह करेंगे। हिन्दी का उन्हें एक शब्द न आवेगा। उनके आचार-विचार अँगरेज के-से होंगे। जीवन को वे बिलकुल दूसरी दृष्टि से देखेंगे। इसका कारण यही है कि प्रतिवेश ने उन पर प्रभाव डाला है। अब अगर मान लिया जाय कि वे जन्म भर विलायत ही में रहें, पीढ़ी दर पीढ़ी वहीं वितावें, ब्याह-शादी उनके आपस ही में हों, परन्तु रहें वे वहीं—तो कुछ पीढ़ियाँ बीतने के बाद हम यह कह सकते हैं कि उनकी परम्परा अपने प्राचीन हिन्दुस्तानी भाइयों से बदल जायगी। यह परम्परा जो कि बदल गई है उस परम्परा से जिसका कि हम ऊपर वर्णन कर आये हैं कुछ भिन्न है। परम्परा को, जिससे मनुष्य की मानसिक और दैहिक शक्तियाँ जन्म के साथ ही अपने माता-पिता के कोष्ठ से मिलती हैं और जिसे सिवाय ब्रह्मा के दूसरा कोई नहीं बदल सकता—उस परम्परा को हम बीज-परम्परा (Biological heredity) कहेंगे। इस पर शिक्षा का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। परन्तु वह परम्परा जिसका प्रभाव कि मनुष्य की मातृ-भाषा, आचार-विचार और उसके मनोविकास इत्यादि पर पड़ता है उसे हम सामाजिक परम्परा (Social heredity) कहेंगे। इस पर शिक्षा का पूरा प्रभाव पड़ता है। हर एक देश की और हर एक जाति की एक विशेष सामाजिक परम्परा होती है और शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिए कि इस परम्परा का वह संचालन करे। वह उस सामाजिक परम्परा को बच्चों को प्रदान करे जिससे वह पीढ़ी दर पीढ़ी चलती चले। शिक्षा का उद्देश्य केवल यही नहीं होना चाहिए कि जो सामाजिक परम्परा हो उसे केवल चलाये ही चले बल्कि उसका संशोधन करे और उसकी उन्नति और वृद्धि का प्रयत्न करे।

४—प्राकृतिक शक्ति और अन्तःक्षोभ

IV. Instinct and Emotion

मनुष्य जो कुछ करता है अथवा सोचता है उसका मुख्य कारण उसकी प्रवृत्तियाँ होती हैं जो उसके मन को विशेष मार्ग पर ले जाती हैं। ये प्रवृत्तियाँ उसे जैसा रास्ता बतलाती हैं वह उसी पर चलता है। वह जिन शक्तियों के अधीन रहता है उनमें से कुछ तो प्राकृतिक होती है और कुछ अर्जित होती हैं जिन्हें वह अपने जीवन में प्राप्त करता है। मनुष्य का चरित्र इन्हीं दो प्रकार की प्रवृत्तियों का बना होता है। यह देखने में आता है कि बालक जब पहले पहल बालवाले जानवर जैसे बिल्ली इत्यादि को देखता है, अथवा कोई घोर ध्वनि जैसे बिजली की कड़क सुनता है तो उसे भय लगता है और वह भागने की या अपने को छिपाने की चेष्टा करता है। ऐसा वह क्यों करता है? किसी ने उससे ऐसा व्यवहार करने को नहीं कहा। केवल उसके मन में से ऐसा करने की उत्तेजना होती है। यह बात उसमें प्राकृतिक है। वह अपने को ऐसा करने से रोक नहीं सकता। डर से इस प्रकार भागने या अपने को छिपाने की आन्तरिक प्रेरणा केवल मनुष्य ही में नहीं बल्कि जानवरों में भी पाई जाती है।

अब बच्चे के अनुकरण करने की शक्ति पर ध्यान दीजिए। एक छोटे बच्चे के व्यवहार को देखिए। वह वैसे ही चलने का प्रयत्न करता है जैसे उसके बड़े चलते हैं। वह वैसे ही कपड़े पहनने का प्रयत्न करता है जैसे कि उसके साथी। बन्दर के लिए भी यह कहा जाता है कि वह बड़ा नक्काल जानवर है। बन्दर को या बच्चे को नकल करना कोई सिखाता नहीं। उनको ऐसा करने की प्रेरणा भीतर ही से होती है।

मनुष्य, गाय, गधा आदि के बच्चे जन्म होने के उपरांत ही माता के स्तनों से दूध पीना आरम्भ कर देते हैं। अगर चुसकने की क्रिया को ध्यान से देखा जाय तो यह पता चलेगा कि वह बहुत सरल नहीं है। तो भी बिना सिखाये और बिना अभ्यास के बच्चा उसको एकदम करने लगता है। बच्चा ऐसा क्यों करता है? इसका कारण यही है कि भीतर से ऐसा करने की उसे प्रेरणा होती है। ऐसे हमको बहुत-से उदाहरण मिल सकते हैं जिनसे यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्य

तथा बहुत-से जानवरों के बच्चे जो कुछ व्यवहार करते हैं वैसा करने के लिए परमात्मा ने उन्हें कुछ प्राकृतिक शक्तियाँ प्रदान की हैं। उसने मनुष्यों तथा जानवरों को भी ऐसी नैसर्गिक बुद्धि दी है जिसके कारण बिना सिखाये हुए वे उस प्रकार का व्यवहार करते हैं।

अब एक पाठशाला में पढ़नेवाले बालक के व्यवहार को देखिए। यह बालक जब अपने अध्यापक को मार्ग में मिलता है, उन्हें प्रणाम करता है और बड़ी नम्रता से बात करता है। कोई वस्तु जो उसे चाहिए, प्रार्थना करके बड़ों से माँगता है। छीनने नहीं दौड़ता। ऐसा व्यवहार वह क्यों करता है? माता के पेट से जन्म लेते ही वह यह व्यवहार न जानता था। वह नैसर्गिक बुद्धि के कारण ऐसा नहीं करता। यह उत्तम व्यवहार उसे सिखलाया गया है। हाँ, यह बात अवश्य है, और आगे चलकर और भी स्पष्ट हो जायगी कि उसने यह व्यवहार धीरे धीरे सीखा है, और उसके सिखानेवालों ने जानकर या न जानते हुए भी उसकी प्राकृतिक शक्तियों को काम में लाकर उसको ऐसा व्यवहार, जो कि हम उत्तम समझते हैं, सिखाया है। आगे चलकर यह भी स्पष्ट होगा कि हमारा सारा चरित्र कुछ तो बिलकुल प्राकृतिक शक्तियों से और कुछ अर्जित अथवा ग्रहण की हुई शक्तियों से बना हुआ है। मनुष्य के व्यवहार में अर्जित शक्तियाँ ही मुख्य हो जाती हैं परन्तु इन सबकी जड़ प्राकृतिक शक्तियाँ ही होती हैं। इस बात को अध्यापक को स्पष्ट रीति से समझ लेना चाहिए कि चरित्र-रूपी सारी हवेली इन्हीं प्राकृतिक शक्तियों के ढाँचे पर बनती है। यही कारण है कि वर्तमान मनोविज्ञान में प्राकृतिक शक्तियों का महत्व अधिक माना गया है।

मनुष्य का सारा चरित्र, उसका व्यक्तित्व और उसका सामाजिक व्यवहार केवल उसकी प्राकृतिक शक्तियों और उनके उचित विकास पर निर्भर है। हर एक व्यक्ति, व्यक्ति होते हुए भी, सामाजिक व्यक्ति है और उसकी प्राकृतिक शक्तियों का विकास उसी सहवास में होता रहता है, जिसमें वह प्राकृतिक शक्तियों पर शिक्षा और सहवास का प्रभाव पड़कर मनुष्य का चरित्र बन जाता है। शिक्षा का मुख्य कर्त्तव्य है कि वह बच्चे के चारों ओर ऐसा प्रतिवेश उपस्थित करे और ऐसे सहवास में उसे रक्खे कि जिसमें प्राकृतिक शक्तियों का पूर्ण शुद्ध रीति से विकास होने का अवसर मिले। इसलिए अध्या-

पक को दोनों बातों के जानने की आवश्यकता है। पहले तो यह कि मनुष्य की प्राकृतिक शक्तियाँ क्या हैं, और दूसरे यह कि वह सहवास जो कि उनके विकास के लिए उत्तम समझा जाय कैसा होना चाहिए।

मनुष्य की शक्तियाँ कौन कौन-सी हैं, और शिक्षा-सम्बन्ध में किनका महत्त्व अधिक है, इस पर विचार करने से पहले हम यह सूक्ष्म रीति से देखेंगे कि प्राकृतिक शक्ति क्या है और उसके मुख्य लक्षण क्या हैं।

प्राकृतिक शक्ति क्या है—इसकी निश्चय रूप से परिभाषा करना बहुत कठिन है। इस बारे में मनोविज्ञानवेत्ताओं में मतभेद भी है। वर्तमान काल में मेकडूगल (Macdougall) ड्रीवर (Drever), थोर्नडाइक (Thorndike) इत्यादि प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ताओं ने इस बात पर बहुत कुछ सोच-विचार किया है जिससे प्राकृतिक शक्ति के लक्षणों का बहुत कुछ पता चला है।

१—पहली बात जो कि कुछ ऊपर के उदाहरणों से विदित होती है। और जिसके बारे में सब सहमत हैं वह यह है कि हममें कुछ प्राकृतिक मनोवृत्तियाँ (चित्तवत्तियाँ) हैं जिनके कारण हम किसी वस्तु को देखकर किसी विशेष प्रकार का व्यवहार करते हैं। यह मानसिक प्रवृत्तियाँ प्राकृतिक हैं। उनके कारण जिस प्रकार का व्यवहार हम करते हैं वह हमें कोई सिखाता नहीं है। उसे हम जन्म से ही जानते हैं और अवसर पाते ही उसे तुरन्त करने लगते हैं। ये प्रवृत्तियाँ परम्परा से चली आ रही हैं और हमारी बीजपरम्परा का अंश हैं। जब उत्तेजना होती है तो हमें व्यवहार करते समय कुछ सोचना नहीं पड़ता और हमारा व्यवहार ऐसी सुगमता से होता है मानो हमें वर्षों से वैसा करने का अभ्यास है। हमारे बहुत-से सीखे हुए व्यवहार भी धीरे धीरे सुगमता से होने लगते हैं, जैसे कि टाइप करना या मोटर चलाना। परन्तु ये प्राकृतिक व्यवहार नहीं बन जाते। यह व्यवहार हम अपने जन्मकाल ही में सीखते हैं और यहीं छोड़ देते हैं। वे बीजपरम्परा के द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी नहीं चलाये जा सकते।

२—दूसरी बात यह है कि जितनी प्रवृत्तियाँ किसी जाति में पाई जाती हैं वे उस जाति के सब व्यक्तियों में होनी आवश्यक हैं। एक प्रवृत्ति जो मनुष्य-जाति में मिलती है वह सारे मनुष्यों में पाई जायगी। वह दूसरे जानवरों में पाई जावे या न पाई जावे, पर जितने मनुष्य हैं उन सबमें वह अवश्य ही होगी। अगर

मनुष्य-जाति की यह प्राकृतिक प्रवृत्ति है कि वह डरावनी वस्तु देखकर अपने को छिपावे या भागे तो सारे मनुष्यों में यह प्रवृत्ति मिलेगी। बहुत-सी प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो मनुष्यों तथा अन्य जानवरों में समान पाई जाती हैं, जैसे नर-मादा के परस्पर मिलने की इच्छा करना। हाँ, एक बात अवश्य है कि यद्यपि कोई मानुषिक प्रवृत्ति सब मनुष्यों में पाई जाती है तथापि यह हो सकता है कि हर मनुष्य में उसके विकास (प्रेरणा) का वेग एक-सा न हो। एक ही डरावनी वस्तु को देखकर ऐसा संभव है कि एक मनुष्य में डर अधिक हो और दूसरे में कम। दो व्यक्तियों में मनुष्य होने के कारण नकल करने की प्रवृत्ति हो, पर हो सकता है कि दोनों की अनुकरण करने की आतुरता में फेर हो। कुछ अन्तर सहवास से पड़ता है परन्तु यह भी देखा गया है कि एक सहवास होते हुए भी यह भेद प्राकृतिक है। यह अन्तर कभी कभी लिंगभेद पर भी निर्भर होता है। कुछ प्रवृत्तियाँ पुरुषों में अधिक तीव्र होती है और कुछ स्त्रियों में। बच्चे को प्यार करने की प्रवृत्ति मनुष्य-मात्र में होती है, परन्तु यह स्पष्ट है कि स्त्री में यह प्रवृत्ति पुरुष की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है। अपने को दूसरे के सामने जताने की प्रवृत्ति पुरुष में स्त्री के मुकाबिले अधिक होती है।

३—तीसरी बात यह है कि यद्यपि ये प्रवृत्तियाँ हमको बीजपरम्परा से मिलती हैं और बिना किसी के सिखाये हम उनके बल पर व्यवहार कर सकते हैं तथापि सब प्रवृत्तियाँ जन्म ही से प्रकट नहीं हो जातीं। इनका उदय समयानुसार होता है। बच्चा जन्मते ही माता के स्तनों से दूध चुसकने लगता है। चुसकना कोई उसे सिखलाता नहीं है। बच्चे की मनोवृत्ति ऐसा करने की होती है और वह ऐसा करता है। चुसकना वह इसी अवस्था से करने लगता है परन्तु बहुत-सी ऐसी प्राकृतिक शक्तियाँ हैं जिनका विकास वह जब तक कुछ बड़ा नहीं होता तब तक नहीं होने पाता। अनुकरण करने की चेष्टा वह कुछ बड़े होने पर करने लगता है। अपने को दिखाने और झगड़ालूपन की प्रवृत्तियाँ थोड़े और बड़े होने पर प्रकट होती हैं। कामभाव प्राकृतिक हैं परन्तु उनका उदय तारुण्य अवस्था के समय तक नहीं होता। इस बात को जानना कि जुदी जुदी अवस्था पर जुदी जुदी प्रकृतियों का विकास होता है अध्यापक के लिए बड़ा आवश्यक है क्योंकि बच्चे की प्रवृत्तियों पर सारा शिक्षा-शास्त्र निर्भर है। यह बात जाने बिना कि किन प्रवृ-

त्तियों का किस प्रकार उपयोग करना चाहिए जिससे वालक उत्तम और गुणवान् व्यक्ति वन सके अध्यापक अपना काम कभी नहीं चला सकता। जिस अवस्था पर जिस प्रवृत्ति का उदय होता है उसी समय उसका पूरा प्रयोग करना चाहिए। शिक्षा-प्रणाली को वालक की प्रवृत्तियों के विकास के अनुकूल बनाना होगा। यदि किसी प्रवृत्ति के उदयकाल में उसका उपयोग न किया गया तो समय बीत जाने पर उसका वेग घट जायगा और उस प्रवृत्ति के समयानुकूल उपयोग से जो लाभ वालक को होता उससे वह वंचित रह जायगा। जिस समय नकल करने की प्रवृत्ति तीव्र हो उस समय बालक को ऐसे सहवास में रखना चाहिए कि उसे उत्तम आचार, उत्तम बोली, उत्तम व्यवहार के अनुकरण करने का अवसर मिले।

मेकडूगल ने प्राकृतिक शक्तियों की परिभाषा करते हुए कहा है कि परमात्मा ने मनुष्य और अन्य जीवों को एक नैसर्गिक बुद्धि दी है। मनुष्य के मन में ऐसी प्रवृत्तियाँ परम्परा से दी हैं जिनके कारण जब वह किसी वस्तु को देखता है या उसके सम्मुख कोई उत्तेजना प्रकट होती है तो वह उस उत्तेजना से एक निश्चित और बँधे हुए व्यवहार को करता है। वह व्यवहार किसी को सिखाना नहीं पड़ता। वैसा व्यवहार करने की शक्ति उसमें प्राकृतिक होती है। मेकडूगल का यह भी कथन है कि उत्तेजना होने से उसके मन में कुछ अंतःक्षोभ भी उत्पन्न होता है। यह अंतःक्षोभ भी व्यवहार की तरह बँधा हुआ है। हर प्रवृत्ति के लिए एक अंतःक्षोभ नियत है जो मन में प्रवृत्ति के साथ ही प्रकट हो जाता है। जेम्स ने तो इस अंतःक्षोभ पर वड़ा जोर दिया है और अंतःक्षोभ की परिभाषा करके उसके लक्षण बताये हैं। हर प्रवृत्ति के साथ एक अंतःक्षोभ बँधा हुआ है या नहीं—इसका निर्णय करना कठिन है। कुछ मनोविज्ञानवेत्ताओं का कहना यह है कि ऐसा सर्वदा नहीं होता। बहुत-सी प्रवृत्तियाँ ऐसी होती हैं जिनके कारण व्यवहार करने में अंतःक्षोभ विलकुल प्रकट नहीं होता—कम से कम प्रत्यक्ष तो नहीं होता। ड्रीवर का कथन यह है कि प्राकृतिक प्रवृत्ति के अनुसार व्यवहार करते समय प्राणी के मन में अंतःक्षोभ अथवा मनोविकार का होना आवश्यक नहीं है। वे यह कहते हैं कि प्राकृतिक प्रवृत्तियों के कारण जो व्यवहार प्राणी करता है उसमें अंतःप्रेरणा अवश्य होती है, अंतःक्षोभ नहीं होता। जब तक प्रेरणा पूर्ण होती जाती है, प्राणी को क्षोभ करने की आवश्यकता होती ही नहीं। किन्तु जब

प्रेरणा के पूर्ण होने में रुकावट होती है तब क्षोभ प्रकट होता है और जितनी विकट रुकावट होती है उतना ही घोर मनोविकार उत्पन्न होता है। जब किसी भयानक वस्तु को देखकर उससे बचने के लिए कोई व्यक्ति भागता है तो जब तक उसको विना रुकावट के भागने को मिलता है तब तक उसको अपने को बचाने की अंतःप्रेरणा की पूर्ति होती जाती है। किन्तु जब वह भाग नहीं सकता, अथवा जब उसे छिपने को कोई स्थान नहीं मिलता, अथवा भागते भागते कोई और आपत्ति बीच में आ जाती है तब उसकी अंतःप्रेरणा पूरी न होने के कारण उसका डररूपी अंतःक्षोभ बढ़ता है। जितनी ही कठिन रुकावट होती है उतना ही घोर अंतःक्षोभ भी होता है।

एक बात जानना और आवश्यक है कि इन प्राकृतिक प्रवृत्तियों का उद्देश्य क्या है। जैसा व्यवहार प्राणी करता है वैसा करने के लिए उसे ये क्यों प्रेरित करती हैं। जीवविज्ञान हमें यह बतलाता है कि प्राणी के जीवन के दो मुख्य उद्देश्य हैं। पहला स्वयं अपना निरीक्षण करना और अपने को जीवित रखना, और दूसरा अपनी जाति की वृद्धि करना और उसे जीवित रखने का प्रयत्न करना। जीवविज्ञान की दृष्टि से यह अवश्य सत्य है और निम्नश्रेणी के जानवरों के जीवन और व्यवहार को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके कुल कार्य इन्हीं उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए होते हैं। किन्तु मनुष्य का व्यवहार इतना सरल नहीं है। वह बहुत मिश्रित और पेचीदा है। और मनुष्य-जाति के सारे व्यवहारों को जीवविज्ञान के दो उद्देश्यों के अधीन समझ लेना मनुष्य-जाति को जानवरों के समान समझना होगा। फिर भी यह कहना असत्य न होगा कि ये उद्देश्य उसके सम्मुख रहते अवश्य हैं।* प्राकृतिक शक्तियाँ जो व्यवहार प्राणी से कराती हैं वह व्यवहार प्राणी के लिए लाभदायक ही होता है। वह व्यवहार सदा उसके और उसकी जाति के स्वार्थ की सिद्धि में सहायता देता है। भागने का व्यवहार उसको भय के कारण से बचाता है। अनुकरण का व्यवहार उसकी स्वार्थवृद्धि

---

* प्राचीन हिन्दू शास्त्रकारों ने कहा भी है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

करता है। काम के व्यवहार में उसके वंश चलाने और उसकी जाति की वृद्धि का उद्देश्य छिपा हुआ है।

हम ऊपर कह आये हैं कि जब किसी प्रकार की उत्तेजना होती है तब वह प्राकृतिक प्रवृत्ति प्राणी से व्यवहार कराती है। यह उत्तेजना विशेष प्रकार की होनी चाहिए। यदि भागने व छिपने का व्यवहार प्रवृत्ति कराना चाहती है तो भयंकर वस्तु या डरावनी ध्वनिरूपी उत्तेजना होनी चाहिए। आरम्भ में व्यवहार होने के लिए इसी प्रकार की उत्तेजना होनी चाहिए। आगे चलकर कम से कम मनुष्य में तो अवश्य, और कुछ कुछ अन्य जीवों में भी, उस प्रारम्भिक उत्तेजना की आवश्यकता नहीं पड़ती। डरावनी वस्तु हो चाहे न हो, उसका केवल विचार ही व्यवहार कराने के लिए यथेष्ट उत्तेजना बन जाता है। यह बात भी जाननी आवश्यक है कि उत्तेजना और व्यवहार में क्या सम्बन्ध है। जैसा हम ऊपर के उदाहरणों में देख आये हैं, किसी व्यवहार के सम्पूर्ण होने में तीन बातें आवश्यक हैं। यथा :—उत्तेजना, अन्तरिक प्रेरणा, और व्यवहार। प्रतिक्रियात्मक काम में केवल उत्तेजना और व्यवहार यही दो पाये जाते हैं। परन्तु प्राकृतिक व्यवहार यद्यपि बहुत कुछ प्रतिक्रियात्मक कार्य के समान सुगमता और सरलता से होता है और उसके करने से प्राणी को सोचना भी नहीं पड़ता; तो भी उसमें उत्तेजना और व्यवहार ही से काम नहीं चलता। मुख्य बात उसमें आन्तरिक प्रेरणा है। व्यवहार का मुख्य कारण वही है। यह प्राकृतिक है कि परोसी थाली देखकर हमारी राल टपकने लगे और हम भोजन करने का व्यवहार करें। परन्तु हमारा भूखा होना मुख्य आवश्यकता है। केवल उत्तेजना होने से काम नहीं चलता। आन्तरिक प्रेरणा अवश्य होनी चाहिए। घोड़े को पानी के निकट ले जा सकते हैं, पर उसे पानी नहीं पिला सकते। शिक्षा-सम्बन्धी बातों में भी इसका ध्यान रखना आवश्यक है। अध्यापक को किसी उपाय से बालक की आन्तरिक रुचि को पकड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी आगे काम चल सकता है और उससे इच्छानुसार व्यवहार कराया जा सकता है।

५—मनुष्य की मुख्य प्राकृतिक वृत्तियाँ

V. Chief Human Tendencies

प्राणी की सब प्राकृतिक प्रवृत्तियों का उल्लेख करने की यहाँ पर आवश्यकता नहीं। कुल कितनी प्रवृत्तियाँ हैं, उनके क्या क्या नाम होने चाहिए और वे कितनी जातियों में विभाजित हो सकती हैं—इन सब बातों पर मनोविज्ञान-वेत्ताओं में मतभेद है। हम केवल उन्हीं प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे जिनका जानना अध्यापक के लिए आवश्यक और लाभदायक है।

व्यवहार ही से प्रवृत्ति का पता लगता है और व्यवहार ही के द्वारा उनका विकास होता है। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी आवश्यक है। मनुष्य का व्यवहार सरल नहीं किन्तु मिश्रित और पेचीदा होता है। किसी व्यवहार में केवल एक ही प्रवृत्ति नहीं बल्कि दो-तीन प्रवृत्तियों का प्रयोग एक साथ होने लगता है। एक ओर डर खींचता है, दूसरी ओर घृणा, तीसरी ओर आश्चर्य और चौथी ओर झगड़ालूपन।

इस कारण जो व्यवहार केवल डर के कारण होता है उसका स्वरूप चार प्रवृत्तियों के मिश्रण के होने से बदल जाता है।

(१) भय से भागना और अपने को छिपाना (Fear)—इसे लोग प्रायः डर ही कहते हैं परन्तु वास्तव में डर इस प्रवृत्ति के साथ जो अंतःक्षोभ होता है उसे कहना चाहिए। यह प्रवृत्ति प्राणी-मात्र में होती है। ऐसा पाया गया है कि डर के मुख्य कारण ये हैं—घोर और कठोर शब्द होना, जैसे बिजली की गड़गड़ाहट, अन्धकार, चलते फिरते विचित्र जीव, बालवाले जानवर इत्यादि। वे सब वस्तुएं जो हमें नुकसान पहुँचा सकती हैं डर उत्पन्न कर सकती हैं। डर की प्रवृत्ति के साथ परमात्मा ने निडरपन प्रदान किया है। अकसर व्यवहार के समय इन दोनों प्रवृत्तियों में झगड़ा होने लगता है और दोनों में जो शक्तिशाली होती है, उसी की जीत होती है। इस प्रवृत्ति का मुख्य कारण केवल जन्म-जन्मान्तर के संस्कार हो सकते हैं। प्राचीन काल में मनुष्य को अपनी रक्षा करने और क्षुधा-शान्ति करने के लिए बड़े बड़े जानवरों का शिकार करना पड़ता था। उसे खोह और कन्दरा में घुसकर जाना पड़ता होगा। सहचार के कारण मनुष्य में यह डर की प्रवृत्ति पुष्ट हो गई। अध्यापक को ध्यान

रखना चाहिए कि इस प्रवृत्ति को अधिक जगाने से सहचार के कारण बालक को हानि पहुँचती है। अगर किसी सर्प ने बालक को या उसके किसी मित्र को बचपन में काटा हो तो सहचार होने से उसके मन में सर्प की ओर से भय जम जायगा और वह बड़ा होने प' सर्प से बहुत डरेगा। बचपन में लड़कों को भूत-प्रेतों से डराना और हौआ कहकर चुप कराना अंत में लाभदायक नहीं होता और बच्चे के मन में वृथा के लिए डर जमा देता है।

अध्यापक के लिए डर की प्रवृत्ति उसके कार्य में बहुत सहायता दे सकती है। डर के कारण हम सुगमता से बच्चे की बुरी मनोवृत्तियों को रोक सकते हैं और उन्हें उत्तम मार्ग में लगा सकते हैं। बच्चे में डर की प्रवृत्ति होने के कारण मारपीट और धमकाने को उसकी उन्नति के लिए उपयोग में ला सकते हैं। जब बच्चा निडर हो जाता है तो धमकाने और मारने पीटने का प्रभाव उस पर बिलकुल नहीं पड़ता। अधिक मारने पीटने से कोई लाभ नहीं होता। शिक्षा का सिद्धान्त केवल यही नहीं होना चाहिए कि डर का प्रयोग करके काम निकाला जाय किन्तु यह भी हो कि वृथा का डर जो बच्चे के मन में होता है उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाय। डर का प्रयोग तभी करना चाहिए जब दूसरे किसी प्रयोग से काम न चले।

डर से मिलती-जुलती हुई घृणा (Repulsion) की प्रवृत्ति है। हम घृणा के कारण भी किसी किसी वस्तु से अपने को दूर हटाने का प्रयत्न करते हैं। जिन वस्तुओं में चिपचिपा या गीलापन हो, या जो कुस्वाद अथवा दुर्गन्धित हों, वे ऐसी हैं जिनसे प्राणी दूर भागने का प्रयत्न करता है। यह भी हो सकता है कि हमें कुछ ऐसे व्यक्ति मिलें जिनके आकार, जिनके विचार, जिनका सारा सहवास हममें घृणा उत्पन्न करे। प्रायः ऐसा होता है कि हम बचपन में कुछ मनुष्यों के किस्से-कहानी पढ़ते हैं और किसी कारण से हमें उन मनुष्यों के लिए मन में घृणा उत्पन्न हो जाती है। वह जन्म भर मन में डटी रहती है। साहित्य और इतिहास के अध्यापकों को बहुत ध्यान रखने की आवश्यकता है कि छोटे बच्चों को पढ़ाते समय महापुरुषों के बारे में ऐसी बातें न कहें जिनसे बच्चों के हृदय में घृणा उत्पन्न हो, नहीं तो वह सदा के लिए उनके चित्त में अंकित हो जायगी। हाँ, साथ में यह भी याद रखने की आवश्यकता है कि

घृणा को अध्यापक काम में भी ला सकता है। उसे यह प्रयत्न करना चाहिए कि बुरी बातों के बारे में बच्चे के हृदय में घृणा उत्पन्न करे जिससे वे अनुचित आचार-विचार और व्यवहार इत्यादि से बचे रहें।

(२) झगड़ालूपन या अड़ (Pugnacity)—बच्चों में यह प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। यह प्रवृत्ति किसी बात पर भी प्रकट हो सकती है। यह बात अवश्य है कि दूसरी प्रवत्तियों के प्रकट होते समय साथ साथ यह भी प्रकट हो जाती है। इसको जितनी रुकावट मिलती है यह उतनी ही अधिक तीव्र हो जाती है। बच्चे में झगड़ालूपन बुरा समझा जाता है और माता-पिता तथा अध्यापक डराकर बच्चे को दबाना चाहते हैं। बच्चे में इस प्रवृत्ति का होना बुरा न समझना चाहिए। झगड़ालू लड़के के तीव्र-बुद्धि और समझदार होने की सम्भावना बहुत होती है। कहा जाता है कि जो बच्चे अपनी धाय को बड़ा तंग करते हैं वे बड़े होकर अच्छे निकलते हैं। जो बच्चे चुपचाप पड़े रहते हैं और गभीरता की मूर्ति होते हैं वे प्रायः मन्दबुद्धि होते हैं। इस प्रवृत्ति को अगर हम अच्छा समझते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि बच्चे को मनमाना करने देना चाहिए। यह चाहिए कि इस प्रवृत्ति को अच्छे मार्ग में लगाने का प्रयत्न किया जाय। जब ऐसा प्रतीत हो कि डर के प्रयोग से बच्चे को हानि पहुँचेगी तब इस प्रवृत्ति को डर के सम्मुख उपस्थित करना चाहिए। कोई कठिन काम कराने के लिए और बच्चे को उत्तेजना देने के लिए इस प्रवत्ति का अध्यापक को प्रयोग करना चाहिए। जब कोई बुरी बात सामने हो अथवा कठिन समस्या उपस्थित हो तो बच्चे की इस प्रवृत्ति को जाग्रत कर देना चाहिए जिससे बालक साहसी हो जाय। बच्चों को दरजे में जब किसी कठिन काम में लगाना हो या कोई कठिन प्रश्न हल कराना हो या कोई कठिन प्रयोग सिखाना हो तो साहस दिलाने के लिए इस प्रवृत्ति को जाग्रत करके बच्चों में लगकर काम करने की आदत डलवानी चाहिए।

(३) कुतूहल अथवा जिज्ञासा (Curiosity)—हम जब कभी किसी नई वस्तु को देखते हैं तो उसके बारे में अधिक जानने का प्रयत्न करते हैं। हम उसके पास जाते हैं. उसे उलटते-पलटते हैं, खोलते हैं, उसका पूरा पूरा निरीक्षण करते हैं। जैसी वस्तु और जैसा अवसर होता है वैसा व्यवहार करते हैं। हमारी

यह इच्छा अवश्य होती है कि उसके बारे में कुछ और जानें। हमको साथ में आश्चर्य भी होता है। देखने योग्य वस्तु होती है तो उसकी प्रशंसा भी करने लगते हैं। एक बात यह भी है कि यदि कोई वस्तु हमसे छिपाई जावे तो उसे देखने की उत्सुकता अधिक हो जाती है। ढकी वस्तु को देखने के लिए और उसके विषय में अधिक जानने के लिए हममें जितनी उत्सुकता होती है उतनी खुली हुई वस्तु के सम्बन्ध में नहीं होती।

यदि कोई अनजान वस्तु हमारे सामने आवे तो कुतूहल की प्रवृत्ति जाग्रत होती है परन्तु साथ में यह भी हो सकता है कि भय भी जाग्रत हो जाय। भय दूर खींचता है। कुतूहल की प्रवृत्ति पास लाती है। दोनों में जो तीव्र होती है वही अपने अनुकूल व्यवहार करा लेती है। कभी ऐसा भी होता है कि एक बार वस्तु को देख उसकी ओर आकर्षण होता है, दूसरी बार देखकर डर लगता है, फिर आकर्षण होता है इत्यादि। बचपन में प्रायः जानवरों को देख ऐसे ही भाव प्रकट होने लगते हैं। जब बालक जानने लगता है कि कौन-सा जानवर हानिकारक है और कौन-सा लाभदायक है तब वह उनके साथ एक प्रकार का बँधा हुआ व्यवहार करने लगता है।

कुतूहल अथवा जिज्ञासा की प्रवृत्ति बचपन में बहुत तीव्र रहती है। बड़े होने पर यह धीमी हो जाती है परन्तु बिलकुल कभी नहीं बुझती। बूढ़ों को भी बहुत कुछ जानने की उत्सुकता रहती है। अध्यापक को चाहिए कि इस प्रवृत्ति का प्रयोग बच्चों को नई बात सिखाने में अवश्य करे। अगर बिना रुकावट के इसको चलने दिया जाय तो सम्भव है कि बालक किसी बात पर पूर्ण रीति से ध्यान न दें और अपना सारा समय एक वस्तु को उठाने और दूसरी वस्तु के देखने में ही व्यतीत कर डालें। परन्तु अगर बच्चे के व्यवहार का ठीक नियंत्रण और संगठन किया जाय तो इस प्रवृत्ति से बहुत कुछ लाभ हो सकता है। बालक को नये काम में लगाने के लिए अथवा किसी नये पाठ को आरम्भ करने के लिए अध्यापक इसका प्रयोग कर सकता है। प्रायः नई वस्तु के दिखाने और उस पर बात करने से बच्चों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। बालक नवीन बात के जानने का प्रयत्न करता है। अध्यापक को बालक का ध्यान उन वस्तुओं की ओर लाने का विशेष प्रयत्न करना पड़ता है परन्तु बड़े

होने पर स्वयं मनुष्य ध्यान देने लग जाता है। नई बातों को जानने की चेष्टा करता है। जिज्ञासा के ही बल से विज्ञान में बहुत कुछ उन्नति हो सकती है।

जीवित-जागृत वस्तुएँ, चलती फिरती चीजें, भौतिक पदार्थ, मनुष्यों और जानवरों की कहानियाँ—ये सब बालकों को आकर्षित करती हैं। उन्हें अमूर्त और प्रत्याहृत बातों में आनन्द नहीं मिलता। बालकों को सिखाने के लिए भौतिक वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिए। जो वस्तुएँ इन्द्रियों को आकर्षित करें उनको काम में लाना चाहिए। आज-कल पदार्थ-पाठ और दस्तकारी की शिक्षा पर जोर दिया जाता है क्योंकि बालक वस्तुओं को अपने हाथों से छूते हैं, उलटते-पलटते हैं, देखते-भालते हैं और इस प्रकार उनका निरीक्षण करते समय उनके बारे में बहुत कुछ सीख जाते हैं। जो बात इस प्रकार बालक सीखता है उसे वह शीघ्र नहीं भूलता। अध्यापक को यह जानना आवश्यक है कि वह पाठ में जिन पदार्थों का समावेश करता है वे पदार्थ पाठ्य विषय और बालक दोनों के अनुकूल हैं या नहीं। यदि पाठ्य विषय या पाठ में समावेशित वस्तुएँ इस सिद्धान्त के अनुकूल न होंगी तो बालक को अधिकाधिक जानने की इच्छा न होगी और समय वृथा नष्ट होगा।

(४) विधायकता (Constructiveness)—किसी बालक को खेलते हुए देखा जाय तो यह मालूम होगा कि वह कभी खाली नहीं बैठता। कभी एक खिलौने को उठाता है; फिर उसे रख देता है। फिर दूसरे को उठाता है। उन्हें इधर से उधर रखता है। कभी उन्हें तोड़ता है और कभी मिलाने और जोड़ने की चेष्टा करता है। वह अपने खिलौने और वस्तुओं से कभी कुछ बनाता है और कभी कुछ। वास्तव में देखा जाय तो वह बड़ा इञ्जीनियर है। जिसे हम तोड़ना कहते हैं और बिगाड़ना समझते हैं उसकी दृष्टि में वह बनाने के ही बराबर है। हम सबमें बनाने-बिगाड़ने और तोड़ने-फोड़ने की प्रवृत्ति है। हममें और बालक में भेद यह है कि हम वस्तुओं की बनावट और उनके असली लक्षण से परिचित हो गये हैं और बालक अभी उनसे अपरिचित है। इन सब प्रयोगों से, जिन्हें हम लौकिक दृष्टि से नियम के विरुद्ध समझते हैं, बालक वस्तुओं से धीरे धीरे परिचित होता है और उनके लक्षणों को सीखता है। इसका अर्थ यह हुआ कि बच्चे को वस्तुओं के साथ उठाने, रखने, देखने, नापने, तोलने इत्यादि प्रयोगों

के करने का जितना ही अधिक अवसर मिलेगा उतनी ही सुगमता से वह उनके लक्षणों से परिचित होगा। जिज्ञासा के बारे में पदार्थ-पाठ और दस्तकारी का जो महत्त्व है उसे हम बता चुके हैं। शिक्षा में विधायकता का भी बड़ा महत्त्व है। वस्तुओं और विचारों का ज्ञान जहाँ तक हो सके छोटे बालकों को दस्तकारी और पदार्थ-पाठ-द्वारा करना चाहिए। पुस्तक-द्वारा उन्हें उतना स्पष्ट ज्ञान नहीं दिया जा सकता। छोटे बच्चों को गिनती, अक्षर इत्यादि सिखाने के लिए किन्डर-गारटन स्कूलों (Kindergarten Schools) में टुकड़ों और चौकोर, गोल इत्यादि वस्तुओं का उपयोग इसी आशय से किया जाता है।

जब बालकपन की तोड़-फोड़ समाप्त हो जाती है और बालक आठ या नौ वर्ष का होने आता है और वस्तुओं के लक्षण का ज्ञान होने लगता है तब उसमें नई वस्तुओं के बनाने की इच्छा उत्पन्न होती है। वह लकड़ी की छोटी छोटी चीज़ें, पत्थर और लोहे की वस्तुएँ बनाने की चेष्टा करता है। ऐसे समय यदि मेकेनो (Meccano) जैसा खिलौना उसके हाथ लग जाता है तो वह उसमें मग्न हो जाता है। आगे चलकर यही बालक इंजीनियर या क्रियात्मक वैज्ञानिक बन सकता है।

(५) स्वत्व या ममता (Ownership)—"मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि वश कीन्हें जीव निकाया"—के अनुसार प्राणिमात्र को 'मेरे' 'तेरे' का ज्ञान होता है। ये ज्ञान होते ही मनुष्य अपनी वस्तुओं का संचालन करने और उनकी वृद्धि करने का प्रयत्न करने लगता है। बच्चा अपने खिलौने को प्यार करता है और खिलौनों को अपने पास एकत्रित करने का प्रयत्न करता है। सयाने होने पर कोई पुस्तक एकत्रित करते हैं, कोई रुपया एकत्रित करते हैं। अपनी वस्तुओं पर प्यार और अपनी बात का पक्षपात—यह प्राकृतिक प्रवृत्ति है। यह सब मनुष्यों में होती है, केवल थोड़े और अधिक का ही फेर है। यदि संसार की सम्पूर्ण संपदा पंचायती कर दी जाय तो शायद ही कोई जी-जान से परिश्रम करने की चेष्टा करेगा और शायद ही संसार में कुछ उन्नति होगी।

संसार ज्यों ही बच्चे को आकर्षित करने लगता है और ज्यों ही उसे

कुछ भी ज्ञान होने लगता है त्यों ही यह प्रवृत्ति प्रकट होने लगती है। बच्चा जहाँ डेढ़ दो वर्ष का हुआ वहीं उसे अपनी वस्तुओं पर अधिकाधिक प्रेम बढ़ने लगता है। वस्तुएँ एकत्रित करने में बालक भूल भी कर सकता है या उसके पास लाभदायक वस्तुओं का संग्रह भी हो सकता है या वह अपना समय, वृथा की चीजें एकत्रित करने में नष्ट कर दे सकता है। अध्यापक इस प्रवृत्ति का उपयोग करके विना विशेष प्रयास के बच्चों का ध्यान ऐसे कामों में लगा सकता है जिनसे वह शिक्षा-संबंधी वस्तुओं को एकत्रित कर सकें। देश-देशान्तरों के टिकट एकत्रित करना, जिसमें बालकों की बहुत रुचि होती है, भूगोल सीखने में सहायता देता है। कुछ बालकों को इस ओर लगाया जा सकता है। ऐसे कार्य करने के लिए बालक के अवकाश के समय का उपयोग किया जा सकता है और वह बहुत बुरी बातों से दूर भी रक्खा जा सकता है। प्राकृतिक विज्ञान सिखाने में वस्तुओं के एकत्रित करने से बहुत सहायता मिल सकती है।

विना रोक इस प्रवृत्ति को चलने देने से हानि भी हो सकती है। अधिक ममता होते होते मनुष्य की उदारता में कमी होने लगती है। इस कारण इसको एक हद से अधिक बढ़ने न देना चाहिए।

(६) अनुकरण, नक़ल (Imitation)—अनुकरण करना मनुष्य की एक मुख्य प्रवृत्तियों में से है। कुछ जानवरों में, विशेषकर बन्दरों में भी यह प्रवृत्ति होती है परन्तु मनुष्य जितनी किसी में नहीं होती। मनुष्य प्राणियों में सबसे बड़ा नकलची है। सहवास का प्रभाव इसी प्रवृत्ति के कारण सबसे अधिक होता है। बालक अपने आस-पास की वस्तुओं को देखता है और उन्हीं का अनुकरण करता है। जैसा सब बोलते हैं वैसा वह बोलता है। जैसा सब पहनते हैं वैसा ही पहनने की वह भी चेष्टा करता है। जो कुछ भाषा हमने सीखी है, जो कला-कौशल हमने सीखा है, जो रीति-रिवाज हमने ग्रहण किये हैं और काम में लाते हैं, और जो कुछ व्यवहार की चाल-ढाल हमने अपनाई है वह सब अनुकरण के कारण। हमारी बोली हमारे कुटुम्बियों और हमारे अध्यापकों की-सी है। हमारा कपड़े पहनने का ढंग हमारे कुटुम्बियों और सहपाठियों का-सा है। इसका यही कारण है कि हम

जिन व्यक्तियों में रहे हैं उनका हमने अनुकरण किया है और हम वैसे ही हो गये हैं।

मनोविज्ञानवेत्ताओं ने अनुकरण के कई भेद बताये हैं। कोई ४, कोई ५ और कोई केवल दो ही प्रकार के अनुकरण मानते हैं। इसके कम से कम दो भेद तो एकदम समझ में आ जाते हैं। एक तो ऐच्छिक और दूसरा अचेतित। पहले प्रकार के अनुकरण में नकल करनेवाला व्यक्ति जान-बूझकर यह निश्चय करता है कि अनुकरण करना चाहिए। मान लीजिए कि अध्यापक बालक का उच्चारण ठीक करने के लिए शुद्ध उच्चारण उससे बार बार कहलाता है। बालक अध्यापक की आवाज सुनने के उपरांत वैसी ही ध्वनि उत्पन्न करने का ऐच्छिक प्रयत्न करता है। यह पहले प्रकार का अनुकरण हुआ। शारीरिक कसरतों के सीखने में हम इसी प्रकार का अनुकरण करते हैं। मनुष्य अचेतित अनुकरण करने का कोई ऐच्छिक प्रयत्न नहीं करता। वह अनुकरण करता रहता है परन्तु उसे इस बात की स्पष्ट चेतना नहीं होती कि वह नकल करता है। अचेतित अनुकरण के कारण हम बहुत कुछ विना प्रयास के अनजान ही में सीख जाते हैं। बालक किसी पाठशाला में कुछ वर्ष पढ़ने के उपरांत वहाँ के रंग में रँग जाता है चाहे उसने जान-बूझकर वैसा करने का प्रयत्न किया हो या नहीं। अचेतित अनुकरण नशे की तरह धीरे धीरे असर करता है। एक दूसरी दृष्टि से अनुकरण के दो भेद माने जा सकते हैं। एक तो वह कि जिसमें जो बात नकल करनी हो वह सामने हो रही हो अर्थात् अनुकरण करनेवाले व्यक्ति के सामने अनुकरणीय व्यवहार प्रत्यक्ष हो रहा हो, जैसे कि अध्यापक कोई कसरत करके बता रहा हो और बालक उस प्रत्यक्ष का अनुकरण कर रहे हों। दूसरा यह हो सकता है कि वह व्यवहार जिसका अनुकरण करना है प्रत्यक्ष न हो किन्तु केवल उसका विचार व्यक्ति के सम्मुख हो। मान लिया जाय कि कसरत एक समय देखी हो अथवा पुस्तक में उसका पाठ पढ़ा हो और फिर किसी समय केवल उस विचार के बूते पर अनुकरण करने लगे तो यह दूसरे प्रकार का अनुकरण होगा।

शिक्षा-शास्त्र में अनुकरण का महत्त्व बहुत है। बोली और उच्चारण पर तो इसका प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। जैसा अध्यापक या किसी

प्रांत के निवासी बोलते हैं वैसे ही वहाँ के बालक बोलने लगते हैं। अँगरेजी भाषा एक है। परन्तु गुजराती, बंगाली, मदरासी, पंजाबी सबों के बोलने का ढंग जुदा जुदा है। और सुनने बोलने में भी सम्बन्ध है। बहिरे बच्चे बहुधा गूंगे भी होते हैं क्योंकि सुन न सकने के कारण ध्वनि का अनुकरण करना उनके लिए सम्भव नहीं इसलिए वे गूँगे हो जाते हैं।

अनुकरण करने की चेष्टा बालकपन में अधिक तीव्र होती है। इस कारण अध्यापक और सहपाठियों की ही नकल बालक अधिक करते हैं। यदि अध्यापक गंदा रहता है, तो बालक भी साफ रहन का प्रयत्न नहीं करते। अध्यापक ठीक समय पर आता है और देर नहीं करता तो लड़के भी वैसा ही करतें हैं। जैसे हस्ताक्षर अध्यापक के होते हैं वे भी वैसी ही लिपि लिखने का प्रयत्न करते हैं। अतएव अध्यापक के लिए यह आवश्यक है कि वह बालकों के सामने अपनी अच्छी आदतों और उत्तम आचार-विचार और स्वभाव को उपस्थित करे और अपने को एक आदर्श बनाने का प्रयत्न करे।

अनुकरण से दो और प्रवृत्तियाँ, एक भली और दूसरी बुरी, उत्पन्न हो जाती हैं। इन्हें स्पधा और ईष्या कहते हैं। दूसरे को देखकर वैसे ही करने की चेष्टा बालक में होती है। अगर केवल साधारण अनुकरण हुआ तो कोई बात नहीं। परन्तु अनुकरण करते करते, धीरे धीरे यह इच्छा भी उत्पन्न होती है कि दूसरे ने जैसा किया है वैसा ही या उससे उत्तम व्यवहार करके दिखाना चाहिए। अगर यह प्रवृत्ति सीधे रास्ते पर रही और अपने को अच्छा बनाने की इच्छा ही तक परिमित रही तो वह स्पर्धा कहलायेगी। और यदि स्वयं दूसरे के बराबर न पहुँचकर और अपनी उन्नति न पाकर मनुष्य दूसरे की अवनति चाहने लगता है तो वह ईर्ष्या का रूप धारण कर लेती है। अध्यापक को चाहिए कि दरजे में बालकों में स्पर्धा तो अवश्य उत्पन्न होने दे किन्तु ईर्ष्या को रोकने का प्रयत्न करे।

(७) सहानुभूति (Sympathy)—हम जब किसी दूसरे को दुख में देखते हैं तो सहानुभूति प्रकट करते हैं। परन्तु सब मनुष्यों में सहानुभूति का वेग एक-सा नहीं होता। कोई कोई व्यक्ति दूसरे को दुख में देखकर बहुत दुखी हो जाते हैं, रोने भी लगते हैं। दूसरे इतने विह्वल नहीं होते।

कुछ ऐसे कठोर-हृदय भी होते हैं जिन्हें देखकर ऐसा मालूम होता है कि उनके ऊपर दूसरे के दुखों का बिलकुल ही प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु मनुष्य-मात्र का हृदय थोड़ा या बहुत पिघलता अवश्य है। इस प्रवृत्ति के प्रकट होने के लिए कोई सोच-विचार की आवश्यकता नहीं होती। किसी मनुष्य में दुख के लक्षण (आँसू निकालना या रोना इत्यादि) देखते ही यह प्रवृत्ति हममें उत्तेजित हो जाती है और हम उसके अंतःक्षोभ का अनुभव करन लगते हैं। सहानुभूति दुःख और सुख दोनों समय में हो सकती है। मेकडूगल ने जाति की दो सहानुभूति बतलाई है। एक निष्क्रिय और दूसरी क्रियावान्। जिस सहानुभति का अनुभव (जिसका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं) हम दूसरे के अन्तःक्षोभ का पता लगाने पर करने लगते हैं, जैसे किसी को रोते देख हमारे मन में दुख होने लगना, उसे हम निष्क्रिय कहते हैं। क्रियावान् में यह होता है कि हम अगर किसी में अपने लिए सहानुभूति प्रकट कराना चाहते हैं तो हम ऐसा भाव और अंतःक्षोभ अथवा इनके बाह्य शारीरिक लक्षण प्रकट करते हैं जिनसे उसमें हमारे लिए सहानुभूति उत्पन्न हो। प्रायः भीख माँगनेवाले इसका प्रयोग करते हैं। बड़े बड़े कामों में भी जैसे किसी संस्था स्थापित करने के लिए या अन्य कार्य करने के लिए, वक्ता लोग ऐसा मार्मिक व्याख्यान देते हैं कि जो लोगों के हृदय पर असर कर जाता है और वे उस संस्था के लिए सहानुभूति प्रकट करने लगते हैं। इस सहानुभूति में कभी कभी (सर्वदा नहीं) थोड़ा सोच-विचार का अंश भी आ जाता है। किन्तु सहानुभूति में अधिकतर भेड़चाल ही देखी जाती है।

बालकों में भी क्रियावान् सहानुभूति की प्रवृत्ति सुगमता से जाग्रत् हो जाती है। किसी दरजे या पाठशाला की चाल-ढाल बनाने में इस प्रवृत्ति की सहायता ली जाती है। अगर अध्यापक किसी विचार या व्यवहार के बारे में अधिकांश बालकों की सहानुभूति जाग्रत् करा देता है तो दूसरे बचे हुए लड़के भी उनके साथ चलने लगते हैं और एक प्रथा बँध जाती है। यह काम जोर जबरदस्ती का नहीं। साहनुभूति जबरदस्ती से जाग्रत् नहीं कराई जा सकती। जो अध्यापक बालक की मनोवृत्ति जानता है और यह समझता है कि विचार या समय अनुकूल है वही उनकी सहानुभूति जाग्रत् कर सकता है।

(८) खेल (Play)—वर्तमानकाल की शिक्षा-प्रणाली में खेल-कूद का महत्त्व अधिक माना जाता है। यह कहा जाता है कि पढ़ाई इस प्रकार की जाय कि बालक खेल-कूद के द्वारा नई बातें सीखें। छोटे बालकों को आकर्षित करने के लिए खेल खिलाकर उनको गिनती, अक्षर और बहुत कुछ सिखाया जाता है। बड़े लड़कों को भी नाटक खिलाकर इतिहास और साहित्य की शिक्षा देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

मनोविज्ञानवेत्ताओं न यह निश्चय किया है कि प्राणि-मात्र में खेलने की प्रवृत्ति होती है और अध्यापक को इसका प्रयोग करना चाहिए। खेल की एक पृथक प्रवृत्ति है या बहुत-सी दूसरी प्रवृत्तियों का विकास खेल-द्वारा होता है—इसमें मतभेद है। अधिकतर मनोविज्ञानवेत्ताओं का यह विचार है कि यह पृथक जाति की प्रवृत्ति नहीं गिनी जा सकती। बहुत-सी दूसरी प्रवृत्तियाँ जैसे अनुकरण, कुतूहल, विधायकता इत्यादि का विकास खेल-द्वारा होता है। इसलिए हम इसे मुख्य मौलिक प्रवृत्तियों में नहीं गिनेंगे।

खेल की प्रवृत्ति के बारे में बहुत-सी कल्पनायें उपस्थित की गई हैं। शिलर (Schiller) का कहना यह है कि प्राणी में बहुत शक्ति है। यह शक्ति वह अपने जीवन के कार्यों में व्यय करता है। रेल के इंजन की तरह वह शक्ति को उत्पन्न भी करता है और उसे व्यय भी करता है। जीवित रहने के लिए जितनी शक्ति की आवश्यकता होती है उतनी शक्ति व्यय करने के उपरांत जो शक्ति बच रहती है उसको प्राणी खेल के द्वारा निकालता है। स्टनली हाल (Stanley Hall) का यह कथन है कि मनुष्य अपने मनुष्यत्व तक बढ़ने में जितनी सीढ़ी चढ़ता है ये सीढ़ियाँ वे ही हैं जो कि उसकी नस्ल ने वर्तमान अवस्था में आने के लिए पार की हैं। किसी समय में मनुष्य जंगली रहा है, दौड़ा धूपा है। उसने जानवरों का शिकार जंगली जानवरों की तरह किया है। बालक अपने बढ़ने में उन सब श्रेणियों को पार करता है। और बालक का खल—शोर करना, दौड़ना यह सब उसी के लक्षण हैं। मेलाब्रांश (Malebranche) ने एक दूसरी कल्पना उपस्थित की है परन्तु उसको कार्ल ग्रूस (Karl Groos) ने स्पष्ट रूप दिया है इसलिए वह उसी के नाम से प्रसिद्ध है। उनके कहने के अनुसार प्रकृति ने खेल की प्रवृत्ति इसलिए उत्पन्न की है

जिससे बालक बचपन में खेलकर अपने को मनुष्यत्व के कर्तव्यों के लिए तैयार कर ले। बिल्ली का बच्चा किसी टुकड़े या चिथड़े से खेलते समय उसे फाड़ता है, उसे उछालता है और इस प्रकार उसके चारों ओर दौड़ता है मानो आगे चलकर जानवरों का जो उसे शिकार करना पड़ेगा इसके लिए अभ्यास कर रहा है। बालकों के वे खेल जिनमें वह बड़ों का अनुकरण करने की चेष्टा करते हैं, जैसे झूठी लड़ाई लड़ना या गुड़ियों का खेल, यह सब उसी प्रकार की तैयारी के लक्षण हैं। इस संबंध में और भी कल्पनायें उपस्थित की गई हैं जिनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता। यहाँ केवल इतना कहना यथेष्ट है कि खेल के सम्बन्ध में कार्ल ग्रूस की तैयारीवाली कल्पना अधिकांश विज्ञान-वेत्ताओं को मान्य है।

खेलने और काम करने में क्या अन्तर है यह भी जानना आवश्यक है। किसी व्यवहार को हम खेलना या काम करना क्यों कहते हैं। लड़कों के फुटबाल खेलने को हम खेलना कहते हैं परन्तु दरजे में सवाल करना काम करना कहलाता है। खेल उस क्रिया को कहते हैं जिसका अभिप्राय उस क्रिया के होने ही में पूर्ण हो जाता हो। काम करने में प्राणी को तब प्रसन्नता होती है जब उसका अभिप्राय सिद्ध हो जाता है। किन्तु खेल में वह उसे क्रिया के व्यापार में ही मिल जाती है। उसे कोई भविष्य के आनेवाले समय के लिए आशा लगाये नहीं बैठे रहना पड़ता है। काम में क्रिया होते समय अभिप्राय के पूर्ण होने की प्रसन्नता नहीं मिलती। अभिप्राय का पूर्ण होना उस क्रिया से बहुत आगे चलकर होनेवाला होती है। ऐसा भी होता है कि प्राणी उसका अनुभव भी नहीं कर सकता। स्कूल के बालक खेलते हैं। खेलने की क्रिया में ही उनको प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह उनके लिए खेल है। सवाल करने में सवाल करते समय प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती। सवाल करने से जो कुछ बात सीखेंगे वह परीक्षा में काम आयेगी, परीक्षा में उत्तीर्ण होने से जीवन के काम में लाभ मिलेगा जिससे प्रसन्नता होगी। यह विचार सवाल करने की क्रिया करते समय प्रसन्नता नहीं देता। फुटबाल के खेल में भी जब यही बात आ जाती है तब वह खेल नहीं बल्कि काम का रूप धारण कर लेता है। बहुत-से लोग फुटबाल या क्रिकेट अपनी जीविका कमाने के लिए खेलते हैं। खेलते समय उनको उस क्रिया में वह

प्रसन्नता नहीं मिलती जो कि स्कूल के वालक को प्राप्त होती है। इसी प्रकार गणित के पंडितों को ज्ञान होने के उपरांत गणित के कठिन प्रश्न हल करने में भी उसी समय आनन्द मिलता है और वह कठिन कार्य उनके लिए खेल का स्वरूप धारण कर लेता है। संक्षेप में, खेल का उद्देश्य 'स्वान्तःसुखाय' से आगे कुछ नहीं है। काम के उद्देश्य जीविका का निर्वाह, दूसरों को प्रसन्न करना इत्यादि वहुत-से हो सकते हैं।

खेल के द्वारा या खेल-स्वरूप में यदि कठिन काम भी किया जायगा तो व मनोरंजक होगा। वालकों का चित्त उसमें लगेगा। इसलिए जहाँ तक हो सके अध्यापक को शिक्षा देते समय यथासंभव खेल-प्रणाली को काम में लाना चाहिए।

इस वात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि वालकों को जुदी जुदी अवस्था में जुदे जुदे प्रकार के खेल आर्कषित करते हैं। छोटा बच्चा तो केवल हाथ-पैर चलाने, वस्तुओं को उठाने-रखने इत्यादि में ही मग्न रहता है। वह इस व्यवहार के द्वारा वस्तुओं के लक्षणों का ज्ञान प्राप्त करता है। थोड़ा वड़ा होने के उपरांत दौड़-धूपवाले खेल, जिनमें भागने, पीछा करने, लपकने, फेंकने इत्यादि का प्रयोग होता है उसे रुचिकर प्रतीत होते हैं। इसी समय, नौ-दस वर्ष का आयु में, विधायकता के खेल उसे पसन्द आते हैं। साथ मिलकर खेलने की प्रवृत्ति भी जाग्रत् हो जाती है। आगे बढ़कर उसे वह खेल जिनमें मानसिक प्रयत्न करना पड़ता है, जैसे शतरञ्ज इत्यादि, अच्छे लगते हैं। सरल मानसिक प्रयत्नवाले खेल, जैसे पहेली वूझना, छोटी अवस्था ही में आर्कषित करने लगते हैं। इस समय शब्दों का बनाना इत्यादि खेल ऐसे हैं जिनका प्रयोग किया जा सकता है।

———

६—चरित्रगठन और व्यवसाय

VI. Character Formation and Will

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य का चरित्र बनाना है। किसी देश का शिक्षा-शास्त्र ऐसा नहीं है जो कि इस बात को अपने सामने किसी न किसी रूप में न रखता हो। बहुत-से देश और संस्थाएँ ऐसी हैं जो इस बात पर अधिक ध्यान नहीं देतीं कि बालक शिक्षा-विषय में कितना ज्ञान प्राप्त करता है किन्तु वे इस बात को मुख्य समझती हैं कि शिक्षा के द्वारा बालक को कहाँ तक सच्चरित्र बनाया जा सकता है।

हम पहले कह आये हैं कि कोई व्यक्ति इस संसार में उत्पन्न होते समय सच्चरित्र या दुश्चरित्र नहीं होता। उसका चरित्र इस संसार ही में रहते रहते बनता है। अगर सहवास अच्छा होता है तो उसका चरित्र उत्तम हो जाता है। नहीं तो वही व्यक्ति दुष्ट जन बन जाता है। चरित्र मानसिक शक्ति पर निर्भर नहीं है। यह संभव है कि एक मूर्ख व्यक्ति सच्चरित्र हो और बुद्धिमान् दुष्ट और कुटिल हो।

परम्परा से कुछ प्रवृत्तियाँ लेकर मनुष्य संसार में उत्पन्न होता है। इन प्रवृत्तियों का विकास परिस्थिति में होता है। यह हम देख चुके हैं कि प्रवृत्तियाँ बुरी और भली दोनों दिशाओं में जा सकती हैं। यदि प्रवृत्तियों को किसी प्रकार की रोक-टोक न हो या उनको उचित मार्ग में न लगाया जावे तो संभव है कि वे उन दिशाओं में, जो सामाजिक दृष्टि से अनुचित हैं, चली जावें। यदि किसी व्यक्ति की प्रवृत्तियों को बिना लगाम स्वच्छन्दता के साथ विकसित होने का अवसर मिला है तो उस व्यक्ति के व्यवहार, उसका स्वभाव इत्यादि असामाजिक हो सकते हैं और होंगे। यदि प्रवृत्तियों का विकास उन दिशाओं में हुआ है जिनसे समाज की वृद्धि हो सकती है तो उस व्यक्ति का चरित्र बहुत उत्तम होगा। शिक्षा का उद्देश्य अगर सच्चरित्र व्यक्ति तैयार करना है तो शिक्षा-प्रणाली को इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि प्रवृत्तियों का विकास उन्हीं दिशाओं में हो जो कि समाज की दृष्टि से उत्तम और उचित हैं।

जानवर और मनुष्य से निम्न श्रेणी के अन्य प्राणियों का सारा व्यवहार केवल नैसर्गिक बुद्धि के बल पर होता है। उनके व्यवहार का संचालन और किसी प्रकार से नहीं होता। यद्यपि मनुष्य भी उन्हीं की तरह केवल प्राकृतिक प्रवृत्तियों को लेकर चलता है तथापि उसमें बहुत-कुछ सीखने की शक्ति होती

है। वह धीरे धीरे प्रवृत्तियों को अपने अधीन करके उनका इस प्रकार प्रयोग कर सकता है कि मनुष्य-समाज उसके व्यवहार को उचित समझने लगे। वास्तविक बात तो यह है कि मनुष्य का सरल से सरल व्यवहार मिश्रित और पेचीदा होता है। तो भी आरंभ में बालक के व्यवहार को जानवरों के नैसर्गिक बुद्धि-बल के व्यवहार के समान ही समझा जा सकता है। किन्तु थोड़े ही समय में परिस्थिति और व्यवहार के कारण उसकी प्रवृत्तियों में परिवर्तन होने लगता है। कोई एक प्रवृत्ति सरल रूप से उससे व्यवहार नहीं कराती बल्कि कई प्रवृत्तियाँ मिलकर मिश्रित प्रवृत्तियाँ बन जाती हैं और यही उसके व्यवहार का नियंत्रण करती हैं। धीरे धीरे उसके मन में स्थायी भाव उत्पन्न हो जाते हैं और इन्हीं सब स्थायी भावों के संगठन से मिलकर उसका चरित्र बनता है।

स्थायी भाव क्या हैं और कैसे बनते हैं

हममें से कदाचित् ही कोई ऐसा हो जिसके मन में कुछ वस्तुओं, प्राणियों अथवा कुछ सिद्धांतों के लिए विशेष प्रेम न हो। यह भी हो सकता है कि एक वस्तु के लिए एक व्यक्ति के मन में दूसरे की अपेक्षा विशेष भाव हो। एक सज्जन को उस कमरे से, जिसमें उन्होंने बचपन में बरसों खेला है, विशेष प्रेम है। जिस पाठशाला में वे लड़कपन में पढ़े थे उससे उन्हें विशेष प्रेम है। उनके मन में दूसरे कमरों के लिए अथवा दूसरी पाठशालाओं के लिए उस प्रकार का भाव नहीं है। जब उस कमरे अथवा स्कूल का नाम वे कहीं सुनते हैं या कोई उनसे उनकी बात करता है तब उनके मन में एक विशेष अन्तःक्षोभ उत्पन्न हो जाता है। दूसरे कमरे अथवा स्कूल के नाम पर वे उस प्रकार के किसी अन्तःक्षोभ का अनुभव नहीं करते। अगर कोई उनकी पाठशाला की बुराई करता है तो उनको क्रोध हो आता है और अगर प्रशंसा करता है तो वे प्रसन्न होते हैं। दूसरे स्कूल के लिए उनके मन में कोई ऐसे अन्तःक्षोभ उत्पन्न नहीं होते। प्रसन्नता का अन्तःक्षोभ इस स्कूल के साथ सहचार में आया है और धीरे धीरे उनके मन में इस स्कूल के बारे में एक स्थायी भाव बन गया है। यह भी हो सकता है कि यदि किसी वस्तु के साथ, मान लीजिए किसी स्कूल के साथ, दुख का अन्तःक्षोभ सहचार में आया हो (अगर वे वहाँ सदा दुखी रहे हों, फेल होते

रहे हों, अध्यापकों ने उन्हें बहुत मारा हो इत्यादि इत्यादि) तो वैसा ही स्थायी भाव उत्पन्न हो सकता है। उस स्कूल का नाम सुनकर उन्हें क्रोध आवेगा। जैसा अन्तःक्षोभिक अनुभव किसी वस्तु के बारे में हमें होता है वैसा ही स्थायी भाव उसके लिए हमारे मन में उत्पन्न हो जाता है।

स्थायी भाव केवल वस्तुओं के प्रति ही नहीं उत्पन्न होता किन्तु किसी भी व्यक्ति, विचार अथवा सिद्धान्त के बारे में उत्पन्न हो सकता है। माता-पिता में अपने बच्चों के लिए, मनुष्य-मात्र में अपन सम्बन्धियों और स्नेहियों के लिए स्थायी भाव होते हैं जिनके कारण उनके विचार और व्यवहार उन लोगों के प्रति एक विशेष प्रकार के हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपने व्यवहार में सत्य और न्याय का प्रयोग किया करे तो उसके चित्त में सत्य और न्याय के लिए भी स्थायी भाव उत्पन्न हो सकता है। किन्तु किसी गुण के लिए स्थायी भाव का होना एक बात है और उसका ज्ञान होना दूसरी। सत्य का ज्ञान होने से यह आवश्यक नहीं है कि व्यवहार भी सत्यतापूर्ण हो, परन्तु सत्य के लिए स्थायी भाव होने से व्यवहार अवश्य ही सत्यतापूर्ण होना चाहिए। इस-लिए शिक्षा के द्वारा स्थायी भाव का उत्पन्न करना ज्ञान प्रदान करने की अपेक्षा अधिक आवश्यक है।

हमारे जीवन तथा सांसारिक व्यवहार पर स्थायी भावों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। वे हमारे मानसिक व्यवहार के मूल हैं। वे हमारे अन्तःक्षोभों के संगठन से उत्पन्न होते हैं और स्थायी और स्थिर रूप धारण किये रहते हैं। हमारा व्यवहार उन्हीं पर निर्भर रहता है। शिक्षा-शास्त्र की दृष्टि से स्थायी भावों का महत्त्व अधिक है। अगर किसी व्यक्ति का मनोविकास इस प्रकार हुआ हो कि वह उन्हीं अन्तः-क्षोभों का अनुभव करे जिन्हें हम उचित समझते हैं तो यह पूर्ण रीति से सम्भव है कि उसका व्यवहार सदाचारी होगा। शिक्षा का यह कर्तव्य है कि बालक में उन स्थायी भावों का संगठन करे कि जो सामाजिक दृष्टि से उचित समझे जाते हैं।

स्थायी भावों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है

किसी वस्तु, गुण अथवा सिद्धान्त के लिए स्थायी भाव तभी उत्पन्न हो सकते हैं जब दो बातें मौजूद हों। पहली तो यह कि उस वस्तु का मन में स्पष्ट बोध होना चाहिए कि वह क्या है और क्या नहीं है। दूसरी शर्त यह है कि

उसके प्रति अन्तःक्षोभों का संगठन हो गया हो। भौतिक वस्तुओं के लिए जो स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं उनमें पहली शर्त किस प्रकार पूरी होती है यह समझना सरल है। इन्द्रियों-द्वारा हम जिन वस्तुओं का पूरा अनुभव कर सकते हैं हमें उनका बोध कर लेना कुछ भी कठिन नहीं है। जैसे, किसी पुस्तक, मनुष्य, घर या स्कूल का बोध कर लेना। बोध होने से यह तात्पर्य नहीं है कि हमें उक्त वस्तु का पूर्ण ज्ञान हो जाय। और न बोध करनेवाले के लिए उस वस्तु के संपूर्ण लक्षणों का जानना ही आवश्यक है। बालक को अपने माँ-बाप, अपने कपड़े, अपने घर का बड़ी जल्दी बोध हो जाता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह उनके बारे में सब कुछ जान ले।

परन्तु न्याय, सत्य इत्यादि भावों का बोध हो जाना सरल बात नहीं है। यह साकार वस्तुएँ तो हैं नहीं जिन्हें बालक देख सके, या जिनका बोध अपनी इन्द्रियों-द्वारा प्राप्त कर सके। न्याय का बोध होने के लिए इस बात को जानना पड़ता है कि एक कार्य न्यायानुकूल है और दूसरा कार्य न्यायविरुद्ध है। न्याय का बोध कराने के लिए उन सब व्यवहारों और बातों का, जिनमें इस गुण का प्रयोग किया जाता है, बतलाने पड़ते हैं। जब तक न्याय का थोड़ा बहुत बोध न होगा तब तक उसके प्रति स्थायी भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। और बोध, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, व्यवहार-द्वारा ही कराया जा सकता है। इस कारण किसी गुण के प्रति बालकों में स्थायी भाव उत्पन्न करने के लिए बहुत-से ऐसे काम कराये जाते हैं जिनसे उस गुण का बोध हो। कार्यों-द्वारा, कहानियों-द्वारा, आदर्श-द्वारा और जो कुछ अध्यापक कर सकता है उन सबके द्वारा बालकों को उसका बोध कराया जाता है। किन्तु इसमें अधिक समय लग जाता है। इन्हीं के कारण बालक की अवस्था बढ़ने पर उसमें इन गुणों के प्रति स्थायी भाव उत्पन्न हो जाते हैं। बोध होने के साथ ही साथ, जैसा हम कह चुके हैं, उस वस्तु के प्रति अंतःक्षोभों का प्रयोग भी होना चाहिए। जितने प्रसन्नता प्रकट करनेवाले अंतःक्षोभ हैं उनका उस वाञ्छनीय गुण के साथ सहचार होना चाहिए जिससे उस उत्तम गुण का स्थायी भाव उत्पन्न हो। जिस वस्तु अथवा दुर्गुण के लिए घृणा का भाव उत्पन्न कराना हो उसके लिए इसका विपरीत प्रयोग करना पड़ता है।

किसी देश की शिक्षा-प्रणाली ऐसी नहीं है जो देश-भक्ति का स्थायी

भाव बालकों में उत्पन्न करने की चेष्टा न करती हो। यह भाव स्थायी रूप से एक दिन में उत्पन्न नहीं हो सकता। बहुत-से विषयों-द्वारा और बहुत-से व्यवहारों-द्वारा, जो बालकों से कराये जाते हैं, यह भाव उनमें उत्पन्न कराया जाता है। भूगोल, इतिहास, साहित्य यह सब विषय ऐसे हैं जिनको सिखाते समय जब कोई अवसर ऐसा मिलता है जिससे यह भाव बच्चों में दृढ़ हो सकता है तभी उसका प्रयोग किया जा सकता है। पहले तो देश कितना बड़ा है, कहाँ तक फैला है, उसमें एकता है आदि बातों का ज्ञान कराया जाता है। फिर देश में जो बलवान्, बुद्धिमान्, गुणवान् व्यक्ति हुए हैं उनका वृत्तान्त बालकों को बताया जाता है और अपने देश के प्रति उनके मन में उचित अंतःक्षोभों का संगठन कराया जाता है।

सफाई, सचाई इत्यादि गुणों के लिए स्कूल के बालकों में अध्यापक को स्थायी भाव उत्पन्न कराने चाहिए। जिस बालक में सफ़ाई के प्रति स्थायी भाव उत्पन्न हो गया है वह किसी कार्य को गंदी तरह नहीं करेगा। आदत की अपेक्षा स्थायी भाव अधिक दृढ़ और पुष्ट होता है। आदत तो केवल यंत्रवत् होती है और एक ही से व्यवहार में काम में लाई जा सकती है। स्थायी भाव की उत्पत्ति अंतःक्षोभों के संगठन से होती है। इस कारण उस पर सदा भरोसा किया जा सकता है। मान लो कि किसी बालक को गणित के प्रश्न सफाई से लिखने की आदत पड़ गई है। सम्भव है कि वही बालक दूसरे कार्य करने में उतना स्पष्ट और साफ न हो क्योंकि सफाई के बारे में उसके मन में कोई भाव तो है नहीं। उसको केवल गणित के प्रश्न सफाई से लिखने की यंत्रवत् आदत है। परन्तु जिस बालक के मन में सफाई के प्रति स्थायी भाव है वह सदा हर एक काम सफाई से करेगा। उत्तम व्यवहार के कराने के लिए बालकों में स्थायी भावों को उत्पन्न कराना परम आवश्यक है। उत्तम स्थायी भाव मनुष्य की वह मानसिक शक्तियाँ हैं जिनके बल पर वह सदा आचार-युक्त व्यवहार करता है।

हर एक देश के निवासियों के पास कुछ स्थायी भावों का संग्रह होता है। उस देश के प्रत्येक सच्चे नागरिकों में उन स्थायी भावों का होना आवश्यक समझा जाता है। सम्भव है कि कुछ स्थायी भाव ऐसे हों जो कि एक देश की आचार-संहिता में उत्तम माने जाते हों और दूसरे में नहीं। यह भी देखा गया

है कि जो भाव एक युग में संसार में आचारयुक्त समझे जाते हैं वे दूसरे युग में ठीक नहीं समझे जाते। समाजों और धर्मों पर भी भावों की उत्तमता निर्भर है। सती का रिवाज एक समाज में बहुत उत्तम गिना जाता था किन्तु दूसरे समाज के लोग उसे आत्महत्या मानते थे। शान्ति के समय में मनुष्य का मारना बहुत बुरा समझा जाता है, किन्तु लड़ाई के समय दूसरे की जान लेना वीरता समझी जाती है। कौन से स्थायी भाव बालकों में उत्पन्न किये जाने चाहिए—यह देश और समय के आचार और विचारों पर निर्भर है। परन्तु जो भी स्थायी भाव उत्तम समझे जायें वे शिक्षा के द्वारा स्कूल के बालकों में उत्पन्न कराने चाहिए। आज-कल स्कूलों में राष्ट्रसंघ (League of Nations) के प्रति बालकों में अनु-कूल भाव उत्पन्न कराया जाता है जिससे बालक अपने जीवन को केवल राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही नहीं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी देख सकें और जिससे संसार की शांति न भङ्ग होने पावे।

हम ऊपर जो कुछ कह आये हैं उससे यह स्पष्ट है कि ऐसे बहुत-से उत्तम स्थायी भाव हैं जो बालकों में उत्पन्न कराने चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य है कि उन स्थायी भावों की उत्पत्ति की ओर ध्यान दे। कौन-से भाव उत्तम हैं यह देश और समय का आचार-शास्त्र निश्चय कर सकता है।

अब हम एक ऐसे स्थायी भाव के बारे में विचार करेंगे जिसे वैज्ञानिकों ने इन सब स्थायी भावों का राजा गिना है और जो मनुष्य के सब स्थायी भावों के संगठन से उत्पन्न होता है। यह मुख्य स्थायी भाव ही मनुष्य के चरित्र की आधार-शिला है। इसे आत्मसम्मान का स्थायी भाव कहते हैं।

बालक को 'स्वयं' का (अपने आपका) ज्ञान धीरे धीरे होता है। इसलिए इस भाव के उत्पन्न होने में समय लगता है। परन्तु सरल रूप से यह ज्ञान बाल्यावस्था ही से उत्पन्न होना आरम्भ हो जाता है। आत्मज्ञान के दो रूप हैं। एक तो इस बात का ज्ञान होना कि हममें विचार-शक्ति है और हम विचार कर सकते हैं। दूसरा यह कि जिन वस्तुओं इत्यादि के बारे में हम विचार कर सकते हैं उनमें एक विचारने योग्य वस्तु 'स्व' भी है। जब इस बात का ज्ञान उत्पन्न होना आरम्भ होता है तब मनुष्य केवल दूसरों ही के व्यवहार, विचार इत्यादि की समालोचना नहीं करने लगता किन्तु अपने

व्यवहार, आचार-विचार इत्यादि पर भी विचार करने लगता है। जब यह भाव उत्पन्न होता है तब उसे इस बात का ध्यान रहने लगता है कि वह कोई ऐसा व्यवहार न करे अथवा ऐसा विचार न प्रकट करे जिसे वह उत्तम नहीं समझता और जिससे उसके आत्मसम्मान में धब्बा लग जाने का भय हो। थोड़े समय में व्यवहार करते करते आत्मसम्मान का भाव दृढ़ हो जाता है।

हम कह आये हैं कि बालक को पैदा होने के उपरांत स्वयं का ज्ञान धीरे धीरे प्राप्त होता है। पहले वह अपने आपको अपनी परिस्थिति (वातावरण) से भिन्न नहीं समझता। किन्तु धीरे धीरे उसे इस बात का ज्ञान होने लगता है कि वास्तव में उसकी स्थिति स्वतन्त्र है और वह दूसरी अर्थात् परिस्थिति की वस्तुओं से पृथक् है। वह जो कुछ देखता और करता है उससे उसे अपने और दूसरे मनुष्यों और वस्तुओं के बीच भेद मालूम होने लगता है। वह सजीव और निर्जीव वस्तुओं के भेद का ज्ञान प्राप्त करता है। अपने को सजीव वस्तु ज्ञात करता है और यह समझने लगता है कि जैसे दूसरी जीवित वस्तुओं में ज्ञान और बुद्धि है वैसी ही उसमें भी है। इस बात का ज्ञान कि वह स्वयं विचार योग्य वस्तु है उसको तभी होता है जब वह मनुष्यों के व्यवहार का विश्लेषण कर सकता है। 'स्व' की समालोचना 'पर' के व्यवहारों के विमर्श ही से उत्पन्न होती है। "मोहन ने सोहन के खिलौने को क्यों ले लिया, उसे बिना पूछे ले लेना चाहिए था अथवा नहीं। मैं मोहन की जगह होता तो ऐसा करता या नहीं। लोग इस बात को कैसा समझेंगे"—इस प्रकार के भाव दूसरों के व्यवहारों के बारे में उसके मन में उत्पन्न होने लगते हैं। धीरे धीरे वह अपने व्यवहारों पर विचार करता है और ऐसा करने से उसके मन में आत्मसम्मान का भाव बढ़ने लगता है। जो कुछ व्यवहार बालक स्वयं करता है अथवा जो कुछ उसके साथ किया जाता है उससे 'स्व' के प्रति अंतःक्षोभों का संगठन होना आरम्भ हो जाता है। दूसरे उसके साथ जो व्यवहार करते हैं उससे उसे यह पता लगता है कि उसका चरित्र किस प्रकार का है। उसे यह ज्ञात होता है कि उसमें क्या क्या गुण और अव-गुण हैं। जिस प्रकार का स्वयं का भाव उसके मन में दृढ़ हो जाता है वैसा ही व्यवहार भी वह करने लगता है। अध्यापक लोग बालक के आत्मसम्मान को उत्तेजित कर उससे सद्व्यवहार करा सकते हैं। जैसे हम अपने बारे में मन में

यह विचार कर सकते हैं—"यह काम अच्छा नहीं है, हमें ऐसा न करना चाहिए। यह कार्य हमारे योग्य नहीं है, नीचा है।" इसी प्रकार बालक से भी कहा जा सकता है—"भाई, यह व्यवहार तुम्हारे योग्य नहीं है। ऐसा करने से तुम अपने को नीचे गिराते हो।" ऐसा कहने से उसका आत्मसम्मान जाग्रत् हो उठता है और वह सदाचारयुक्त व्यवहार करने लगता है। अध्यापक को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यवहार हम बालक के साथ करते हैं और जो कुछ उससे कहते हैं उससे उसको 'स्व' का ज्ञान होता है और वह अपना चरित्र वैसा ही समझने लगता है। जो कुछ बालक के मन में उसके बारे में दृढ़ कराया जाता है वह वही होने की चेष्टा भी करता है। जो बालक अपने को ईमानदार, सदाचारी, सत्यवादी समझता है वह अपना व्यवहार उसी प्रकार का बनाने की चेष्टा करता है। जब उसे यह बताया जाता है कि वह ठीक काम नहीं करता अथवा सत्य नहीं बोलता तब उसे लज्जा आती है और उसके मन पर असर पड़ता है। परन्तु अगर किसी बालक से प्रतिदिन यह कहा जाता है कि "तुम झूठे हो, निकम्मे हो।" तो उसके मन में वैसा ही विचार स्वयं के बारे में दृढ़ हो जाता है। इस बालक को जब फिर यह ज्ञात कराया जाता है कि उसका व्यवहार उत्तम नहीं है तब उस पर कोई असर नहीं होता क्योंकि स्वयं के सम्बन्ध में उसकी यह धारणा कि वह झूठा और निकम्मा है उसके मन में दृढ़ कर दी गई है। यही स्थिति दुराचारी बालकों और मुजरिमों की हो जाती है। जिस बालक के मन में यह दृढ़ करा दिया गया है कि वह साधु है उसके सदाचारी बनने की संभावना उस दूसरे की अपेक्षा अधिक है कि जिसके मन में यह विश्वास दृढ़ हो गया है कि वह दुष्ट है। अध्यापक को यह चाहिए कि वह दिन प्रतिदिन और बार बार किसी बालक को दुष्ट, गंदा, मूर्ख न कहे नहीं तो उस बालक के ठीक होने की कोई संभावना न रहेगी। अगर किसी बिगड़े व्यक्ति के चरित्र का सुधार करना हो तो यह आवश्यक है कि उसके मन में जो स्वयं का दूषित भाव दृढ़ हो गया है उसे निकालकर उसके मन में स्वयं का दूसरा और अच्छा स्थायी भाव जमाया जाय।

मनुष्य के चरित्र और उसकी व्यवसायात्मिका बुद्धि में भी बड़ा सम्बन्ध है। जो मनुष्य संकल्प के साथ किसी कार्य-क्षेत्र में उतरता है उसको सफलता

अवश्य प्राप्त होती है। परन्तु जिसके मन में दृढ़ता और संकल्प नहीं होता वह बहुत धक्के खाता है। कहावत है कि परमात्मा उसी की सहायता करता है जिसमें व्यवसाय होता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से व्यवसाय क्या है और वह किस प्रकार मनुष्य के कर्त्तव्य पर प्रकाश डालता है इस बात पर हमें विचार करना चाहिए। व्यवसाय का अर्थ दो प्रकार समझा जाता है। व्यवसाय से कुछ लेखकों का आशय उस शक्ति से है जिसके कारण मनुष्य बहुत समय तक किसी एक काम में अपने ध्यान को प्रयत्न करके प्रवृत्त रख सकता है। जो व्यक्ति लगातार आठ दस घण्टे तक किसी काम को एकाग्र चित्त से कर सकता है वह व्यवसायी पुरुष है। कुछ लेखक व्यवसाय से दूसरा आशय लेते हैं। वे इस बात को मुख्य नहीं समझते हैं। उनकी सम्मति से शारीरिक थकावट होते हुए भी किसी कार्य में अधिक समय तक एकाग्रचित्तता रखना ही व्यवसाय है। उनका आशय व्यवसाय से उस मानसिक शक्ति से है जिसके कारण मनुष्य किसी ऐसे कार्य को, जो रुचिमान् व जान पड़े, संकल्प करके कर सकता है। व्यवसायी बालक, जिसे मेले में जाना है और जिसे कुछ सवाल भी करने हैं, मेले में जाने का आनन्द जानते हुए भी सवाल करने का कठिन कार्य पहले करना ठीक समझता है। सवाल करने के उपरांत वह मेले में जाता है। मेले का आनन्द उसको सवालों में एकाग्रचित्त होने से हटा नहीं सकता। इस दृष्टि से उस व्यक्ति को व्यवसायी कहेंगे जो जान-बूझकर उस कठिन मार्ग को चुने जिसमें वर्तमान रोचकता और मधुरता न हो। ऐसा व्यक्ति भविष्य को ध्यान में रखता है और सहज किन्तु अस्थिर आनन्द देनेवाले मार्ग पर नहीं जाता।

इन दोनों अर्थों की व्याख्या पूर्ण रीति से करना आवश्यक है। अधिक समय तक रहनेवाली एकाग्रचित्तता आयु और अभ्यास पर निर्भर है। बच्चों में वह पुरुषों की अपेक्षा कम होती है और वह अभ्यास से बढ़ाई जा सकती है। बालक में दृढ़ता और एकाग्रचित्तता कम होती है। इस कारण उसका ध्यान बार बार उचट जाता है। बालक क्षण भर के लिए एक काम में ध्यान देता है, फिर उससे भागता है और दूसरी ओर आकर्षित हो जाता है। अधिक अवस्था के मनुष्य में अधिक देर तक ध्यान देने की शक्ति होती है। स्कूल का समय-

विभाग बनाते समय भी यह बात ध्यान में रक्खी जाती है कि छोटे बालकों को अधिक देर तक एक विषय न पढ़ाया जावे। बालकों को धीरे धीरे एक विषय पर अधिक देर तक ध्यान देने का अभ्यास कराया जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी काम में यन्त्रवत् लगा रहे। इसको व्यवसाय नहीं कह सकते। स्कूल में व्यवसाय की वृद्धि के लिए यन्त्रवत् अभ्यास कराने से कोई लाभ नहीं। यदि किसी काम में, जैसे दो घण्टे लगातार पहाड़े रटाने में, बालकों को इस उद्देश्य से लगाया जाता है कि वे इस प्रकार के अभ्यास के कारण दूसरे अरुचि-पूर्ण कामों में चित्त लगा सकेंगे तो यह दुराशा है। किसी काम में एकाग्र-चित्तता का होना उस काम में रुचि से सम्बन्ध रखता है। यदि कोई कार्य रोचक बनाया जावे तो उसे करते करते धीरे-धीरे बालकों में उस प्रकार का कार्य करने की केवल यन्त्रवत् आदत ही नहीं बल्कि एक स्थायी भाव उत्पन्न हो जायगा जिसके कारण बालक वैसे कार्यों में एकाग्रचित्त होकर लगे रहेंगे।

जब हम 'व्यवसाय' से ऊपर बतलाया हुआ दूसरा अर्थ लेते हैं, अर्थात् किसी कठिन कार्य को सहज कार्य की अपेक्षा जान बूझकर चुनना और उसको ध्यान से करना, तब हम यह स्वीकार करते हैं कि जो व्यक्ति यह कठिन मार्ग लेता है वह इस बात का ज्ञान रखता है कि दोनों में उच्चकोटि का कार्य कौन-सा है। कठिन, परन्तु अंत में सुखमय मार्ग, वही पुरुष लेगा जिसमें अपने सम्मुख के कार्यक्रमों में से चुनकर उच्च उद्देश्य ले सकने की योग्यता है। उद्देश्यों की तुलना कर सकना, ऊँचे और नीचे कार्यों में भेद क्या है इस बात को समझना, यह शिक्षा से आता है। तुलना करके उचित मार्ग का चुनना तभी हो सकता है जब चुननेवाले व्यक्ति में उत्तम स्थायी भाव—विशेष कर वह स्थायी भाव जिसे हम सभों का राजा मानते हैं अर्थात् उचित आत्मसम्मान का स्थायी भाव—उत्पन्न कर दिये गये हों। मनुष्य सदा दृढ़ रूप से उसी कार्य में तत्पर हो सकता है जो उसके स्व के भाव के अनुकूल हो। जो स्व का भाव दुष्टता है तो दुष्टता के कार्यों में दृढ़ता और एकाग्रचित्तता आवेगी और अगर स्व का भाव साधुता है (जैसा कि उत्तम शिक्षा से होना चाहिए) तो सदाचारी कार्यों में एकाग्रचित्तता आवेगी। इस कारण व्यवसायात्मिका बुद्धि के उत्पन्न करने के लिए उत्तम आत्मसम्मान का स्थायी भाव उत्पन्न करना चाहिए।

७—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान और सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान

VII. Sensation and Perception

हम विश्व का जो कुछ ज्ञान प्राप्त करते हैं वह विशेष करके इन्द्रियों-द्वारा ही प्राप्त होता है। संसार से हमारा सहवास भी पहले पहल इन्द्रियों ही द्वारा होता है। यह ज्ञान दो प्रकार का है—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान और सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान उतने ही ज्ञान को कहते हैं जो हम इन्द्रियों के द्वारा अनुभव करते समय प्राप्त करते हैं। जब इन्द्रियों-द्वारा प्राप्त हुए अनुभव का हम विवरण करते हैं और हमारे मन में जो विचार अथवा अनुभव पहले से उपस्थित हैं उनकी सहायता से उस अनुभव को समझते हैं तब हम सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं। मनुष्य सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्राप्त करता है। शुद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का वर्णन करना और उसका ठीक उदाहरण देना बड़ा कठिन है, कारण यह कि इस प्रकार का शुद्ध अनुभव बहुत कम हो सकता है। युवा पुरुष का तो कोई अनुभव ऐसा होता ही नहीं। बच्चे को अवश्य आरम्भ में ऐसा अनुभव होता होगा। उदाहरणार्थ अगर हम अपने उस समय के अनुभव को, जब हममें किसी कारण पूरी चेतनता न रही हो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान कह सकते हैं। मान लीजिए कि गिरकर या चोट खाकर हम बेहोश हो गये हैं और बेहोशी की दशा से फिर चेतनता की दशा में आ रहे हैं। तो उस अर्धचैतन्य अवस्था में जो वस्तुएँ हमारे चारों ओर हैं—कुर्सी, मेज, मनुष्य, पेड़, मकान इत्यादि—उनका अनुभव जो हमें होता है उसे हम निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान के समान कह सकते हैं। ऐसी दशा में वस्तुओं के शुद्ध आकार का हमें पता नहीं चलता। कौन-सा मनुष्य सामने है इसकी पहचान नहीं होती। पेड़ नीम है या पीपल, या पेड़ ही है और कुछ नहीं है, इसका पूरा ज्ञान नहीं होने पाता। केवल आँखों के सामने कुछ धुंधली वस्तु दिखाई देती है। अनुभव सविकल्पक नहीं होने पाता। जब प्रत्यक्ष दिखाई देती हुई वस्तु का विवरण होने लगता है तब सविकल्पक ज्ञान प्राप्त होता है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान पुराने अनुभवों के आधार पर बनता है। हम किसी एक वस्तु के बारे में सभी इन्द्रियों-द्वारा कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करते हैं। कलम को ही लीजिए। उसे हमने देखा है, हाथ में लिया है, उससे लिखा है इत्यादि इत्यादि। तो उसके बारे में जो यह सब अनुभव हमें हुए हैं उन्हें हम बिलकुल नहीं भूल जाते। इनका कुछ न कुछ अंश हमारे मस्तिष्क में रह ही जाता है। किसी वस्तु के बारे में इन्द्रियों-द्वारा जितने अधिक अनुभव हमें हुए होते हैं उतना ही अधिक ज्ञान हमें उसके बारे में होता है। जब कोई वस्तु हमारे सम्मुख आती है तब हमारे मन में उसके सम्बन्ध के जो पुराने अनुभव उपस्थित होते हैं उनके आधार पर हम उसका विवरण करते हैं। जितने कम अनुभव हमारे मन में होंगे उतना ही कम विवेचन हम कर सकेंगे और जितने अधिक अनुभव उपस्थित होंगे उतना ही अधिक। इसी कारण बालक की अपेक्षा युवा पुरुष का सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान अधिक सम्पूर्ण होता है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होने के लिए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का होना आवश्यक है क्योंकि वही तो मार्ग है जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। उसी ज्ञान को लेकर मन उसका विवरण करने लगता है। निर्विल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए परमात्मा ने हमें कुछ आले दिये हैं। उन्हीं के द्वारा हमारे मस्तिष्क में असर पहुँचता है। हर एक आले की बनावट मिश्रित और पेंचीदा होती है। प्रकृति ने इस बात का पूरा प्रबन्ध रक्खा है कि प्रत्येक आला अपना काम बड़ी सुगमता से कर सके। अगर आँख या कान की बनावट को खोलकर देखा जाय तो प्रकृति की महत्ता का अनुभव हो सकता है। यह दैहिक आले उन्हीं सब आलों के समान हैं जिनका प्रयोग विज्ञान की क्रियाओं में किया जाता है। परन्तु ये दैहिक आले मस्तिष्क से स्नायुओं-द्वारा मिले रहते हैं और जो कुछ असर इन पर पड़ता है वह स्नायुओं-द्वारा मस्तिष्क में पहुँचता है। निर्विकल्पक ज्ञान मस्तिष्क में प्राप्त होता है। हम अपनी आँखों से देखते हैं परन्तु आँख केवल एक आला है जिसके द्वारा ज्योति का असर हमारे मस्तिष्क में पहुँचता है। वास्तव में देखने का काम हमारा मस्तिष्क करता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों रूपी द्वार से मस्तिष्क अनुभव करता है और निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्त करता है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि आले अर्थात् इन्द्रियाँ कोई

मुख्य काम नहीं करते। इन्द्रियों का महत्त्व तभी अनुभव किया जा सकता है जब कोई इन्द्रिय दूषित हो जाती है। एक इन्द्रिय के दूषित होते ही अनुभव और ज्ञान प्राप्त करने का एक द्वार तुरन्त बन्द हो जाता है और उस ओर से संसार अन्धकारमय हो जाता है। मस्तिष्क में भी दोष होने से वही आपत्ति उत्पन्न हो जाती है। ज्ञान प्राप्त होने के लिए इन दोनों अंगों का कार्यक्रम ठीक चलना चाहिए।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान ठीक हुए विना सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान कभी ठीक नहीं होगा। सविकल्पक ज्ञान कहाँ तक होगा वह उन सब भावों और अनुभवों पर निर्भर है जो हमारे मन में उपस्थित हैं। जितने अधिक विचार हम काम में ला सकेंगे उतना ही अधिक सविकल्पक ज्ञान प्राप्त होगा। हम यह कह चुके हैं कि सविकल्पक ज्ञान होने में निर्विकल्पक का विवरण होता है। परन्तु, जिस समय सविकल्पक ज्ञान होता है उस समय हम उन सब अनुभवों का, जिनकी सहायता से हम निर्विकल्पक का विवरण कर सकते हैं, पुनरनुभव नहीं करते। हमें वस्तुओं का अखिल ज्ञान होता है, किन्तु जब हम उनकी व्याख्या करने बैठते हैं केवल तभी उनके सब भागों को पृथक् बता सकते हैं। हमारा अखिल ज्ञान अन्तर्गत रहता है, परन्तु इच्छा करने पर हम उसके प्रत्येक भाग को स्पष्ट करके फैला सकते हैं।

उदाहरणार्थ मान लीजिए कि आपके सामने कटोरा भरकर दूध रक्खा हुआ है। जो वस्तु (दूध का कटोरा) आपके सामने रक्खी है उसे देखते ही आप यह सविकल्पक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं कि वह दूध का कटोरा है। आपने केवल उस वस्तु को देखा है। आँख से पूरा अनुभव किया है परन्तु जो ज्ञान उस वस्तु के बारे में, अर्थात् उसका दूध का कटोरा होना, आपने प्राप्त किया उसमें बहुत-सी बातें अन्तर्भूत हैं जिनका अनुभव आपने उस समय दृष्टि-द्वारा नहीं किया। उन सब बातों को काम में लाकर और विवरण करके मन ने तुरन्त निश्चय कर दिया कि वह दूध का कटोरा है। आप ये दूसरी बातें [दूध का पानी रूप होना, श्वेत रङ्ग होना, कटोरे का कड़ा होना, दूध में और दूसरे द्रव पदार्थों में अन्तर होना, इस शक्ल की वस्तु का कटोरा होना इत्यादि] इन्द्रियों-द्वारा पहले अनुभव कर चुके हैं और ये सब बातें आपके मन में उपस्थित हैं।

आपके मन ने इनका प्रयोग किया और निश्चय किया कि वह दूध भरा कटोरा है। जब उसे देखते ही एकदम आप दूध का कटोरा कह देते हैं तो आपके मन में उस वस्तु का अखिल ज्ञान जो कि अंतर्गत होता है स्पष्ट हो जाता है। वह सब अनुभव जिनके कारण यह निश्चय होता है कि यह दूध का कटोरा है उस अखिल ज्ञान में अन्तर्भूत रहते हैं। जब आपसे व्याख्या करने को कहा जाता है तब आप उन सब लक्षणों और अनुभवों का वर्णन कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

मनुष्य ज्यों-ज्यों सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता जाता है त्यों-त्यों वह अपनी परिस्थिति को अधिक समझता जाता है। वह वस्तुओं को पहचानने लगता है और एक वस्तु का दूसरे से भेद भी करने लगता है। बालक अपने माता-पिता को पहचानने लगता है। जानवरों को एकदम देखकर बता सकता है। कुत्ते को बिल्ली से पृथक् जानवर मानता है। अपने पिता और दूसरे पुरुषों में अन्तर जानता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि इन सब वस्तुओं के बारे में, जिन्हें वह पहचान लेता है, वह सब कुछ जानता हो। अगर उससे उनकी व्याख्या करने को कहा जाय तो वह न कर सकेगा। कुत्ते को वह पहचानता है—परन्तु यदि उससे कुत्ते की परिभाषा करने को कहा जाय तो वह न कर सकेगा। वह कुत्ते के सब लक्षणों को स्पष्ट रीति से नहीं जानता। वह धीरे धीरे लक्षणों का भी ज्ञान प्राप्त करता है। उसके मन में कुत्ते के बारे में जो लक्षण जानने चाहिए उनका समूह एकत्रित हो जाता है। जब किसी वस्तु के बारे में मन में भावों की सम्पन्नता हो जाती है तब उस वस्तु के बारे में पूर्ण ज्ञान हो जाता है। किसी वस्तु के इस सम्पूर्ण ज्ञान को सामान्य प्रत्यय कहते हैं। यह शब्द विशेष कर प्रत्याहृत भावों के लिए प्रयोग किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति 'सत्य' क्या है इसे पूर्ण रीति से जानता है और उसकी परिभाषा कर सकता है तो हम कहेंगे कि उसके मन में 'सत्य' शब्द का सामान्य प्रत्यय है, 'कुत्ता' शब्द का भी सामान्य प्रत्यय हो सकता है, परन्तु इस शब्द का प्रयोग विशेषकर प्रत्याहृत भावों के लिए ही करना चाहिए।

सामान्य प्रत्यय के उत्पन्न होने के लिए विचारों का होना आवश्यक है। परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होने के लिए भी कुछ सरल विचार तो मन में

होने ही चाहिए। विचारों की शून्यता से काम नहीं चल सकता। किसी वस्तु को जब हम अनुभव करते हैं तो उस अनुभव से कुछ विचार अवश्य उत्पन्न होते हैं। इन्हीं विचारों की सहायता से हम उस वस्तु को दूसरी बार देखते ही पहचान लेते हैं। परन्तु, जैसा हम पहले कह आये हैं, पहचानते समय मन इन सब विचारों को काम में नहीं लाता और उस अनुभव की पूरी व्याख्या नहीं करता। बालक कुत्ते को पहचान लेता है, पर जैसा हम कह चुके हैं, उसकी परिभाषा नहीं कर सकता। कुत्ते का सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान उसे अवश्य है पर वह उस ज्ञान का विश्लेषण करने में असमर्थ है। बालक बहुत-सी वस्तुओं को पहचानता है। परन्तु उन वस्तुओं के बारे में वह अधिक नहीं जानता। बहुत-सी वस्तुओं और भावों के बारे में बालकों की स्थिति भी बड़ों जैसी होती है। ऐसी कितनी वस्तुएँ होती हैं जिन्हें वे काम में लाते हैं, परन्तु उनका उन्हें सविकल्पक ज्ञान ही होता है। वे अपने ज्ञान का विश्लेषण नहीं कर सकते। हम अपने घर की सीढ़ी पर प्रतिदिन चढ़ते-उतरते हैं, घड़ी में समय देखते हैं, कमरे में रहते हैं। परन्तु यदि हमसे पूछा जाय कि सीढ़ियाँ कितनी हैं अथवा घड़ी की चौड़ाई कितनी है, या उसकी सुई की ठीक लम्बाई क्या है, अथवा कमरे के फर्श में कितने पत्थर हैं तो हम इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते। हमने इन बातों पर ध्यान नहीं दिया। वस्तुओं का सविकल्पक ज्ञान है, उनका प्रयोग करते हैं, किन्तु कोई प्रसङ्ग ऐसा नहीं पड़ा जिससे उन वस्तुओं के बारे में अधिक बातें जानने अथवा देखने की आवश्यकता पड़ी हो। अगर सीढ़ी टूट जाय, या फर्श में पत्थर लगवाने पड़ें तो हम सब बातों का निरूपण करेंगे। बिना किसी प्रसङ्ग और अभिप्राय के कोई किसी वस्तु का निरीक्षण नहीं करता। निरीक्षण करने में उन विचारों की सहायता से जो मन में हैं वस्तु का विश्लेषण करना पड़ता है। निरीक्षण के लिए विचार और प्रसङ्ग दोनों आवश्यक हैं। जब अधिक अवस्थावालों की ऐसी स्थिति होती है तो बालकों का कहना ही क्या है? किसी बालक के सामने अगर कोई यन्त्र रख दिया जाय और कहा जाय कि इसे देखो तो वह क्या करेगा? यदि उसमें कोई आकर्षक बात हुई तो कदाचित् कुतूहल जोर कर आवे और वह थोड़ी देर उस पर ध्यान दे। परन्तु अभिप्राय बिना वह किस पर ध्यान देगा और क्या करेगा—यह नहीं कहा जा सकता। अगर अभिप्राय होगा तो

उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा। इस कार्य के करने के लिए उसे विचारों की आवश्यकता पड़ेगी। उनके बिना वह विश्लेषण नहीं कर सकेगा।

बालकों को विज्ञान और प्रकृति-निरीक्षण सिखाने में निरीक्षण का प्रयोग किया जाता है। अध्यापक को यह बात जाननी चाहिए कि बिना किसी उद्देश्य के निरीक्षण नहीं हो सकता। मान लीजिए कि वह मेढक के बारे में बालकों को कुछ सिखाना चाहता है। तो केवल मेढक बालकों के सामने रखकर यह कह देना कि इसे देखो, पर्याप्त न होगा। जब तक वह बालक के मन में कोई अभिप्राय न उपस्थित करेगा तब तक काम न चलेगा। अगर बालकों के सामने इस प्रकार के अभिप्रायरूपी प्रश्न प्रकट किये जायें कि यह जानवर कैसे चलता है, कहाँ से भोजन पाता है, किस प्रकार भोजन खाता है, तो इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने के लिए बालक उस जानवर का निरीक्षण करेगा। बिना अभिप्राय के केवल समय नष्ट होगा और बालक न कुछ देखेंगे न समझेंगे। अभिप्राय के साथ साथ कुछ सरल विचारों का होना भी आवश्यक है। खाना क्या है, चलना किसे कहते हैं, लम्बाई का क्या अर्थ है, रंग किस किस प्रकार के होते हैं, इत्यादि सरल विचारों का उसे ज्ञान होना चाहिए। निरीक्षण-द्वारा यही सरल विचार और स्पष्ट तथा साफ हो जाते हैं और बालक उनका पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

८—अवधान और रुचि

VIII. Attention and Interest

किसी वस्तु का सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए मन उस वस्तु का किसी न किसी रीति से अनुभव करता है और उपस्थित विचारों की सहायता से उसका विवरण करता है। बालक गेंद को देखता है और तुरन्त उसे पहिचान लेता है क्योंकि उसे उस वस्तु का सविकल्पक ज्ञान प्राप्त है। देखना और पहिचानना दोनों तुरन्त ही हो जाते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि सविकल्पक ज्ञान प्राप्त करने में कुछ भी समय नहीं लगता। समय कम अवश्य लगता है परन्तु यह समझना कि वह थोड़ा समय शून्य के बराबर है, ठीक न होगा। जो वस्तु आँखों के सम्मुख आती है उसे पहिचानने के लिए मन को उसे अपने सम्मुख थोड़ी-सी देर रखना अवश्य पड़ता है। जिसे हम तत्काल पहिचानना कहते हैं उसमें भी कुछ समय लगता अवश्य है। आँखों के देखने में समय लगता है। वस्तुएँ हमारे सम्मुख तेजी से लाई और हटाई जा सकती हैं कि जिसमें हम उन्हें पहिचान न सकें क्योंकि आँख को देखने और मन को पहिचानने में जितना समय लगता है उतना हमें नहीं मिल पाता। पूर्ण रीति से सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होने के लिए यह आवश्यक है कि ऐन्द्रिक अनुभव को समझने और विवरण करने के लिए मन को थोड़ा समय दिया जाय। मन की इस क्रिया, अर्थात् किसी अनुभव को मन के सामने कुछ समय तक उपस्थित रखने को अवधान कहते हैं। किसी वस्तु अथवा विचार पर जब हम ध्यान देते हैं तो उसे मन के सम्मुख उपस्थित रखने का प्रयत्न करते हैं। विशेष करके अवधान का प्रयोग हम उन्हीं अवसरों पर करते हैं जब ध्यान देने का कार्य कुछ अधिक समय तक जारी रहता है।

अवधान को हम एक दूसरी दृष्टि से भी देख सकते हैं। वर्तमान काल में मनोविज्ञानवेत्ताओं ने अवधान को इसी दृष्टि से देखा है। वे कहते हैं कि अवधान चेतना की एक चुनने की क्रिया है। उन भावों और विचारों इत्यादि में से, जो चेतना में उपस्थित रहते हैं, मन अपने सम्मुख रखने के लिए हर

समय कुछ को चुन लेता है। इन्हीं चुने हुए भावों पर मन ध्यान देता है दूसरों पर नहीं। हम चेतना-प्रवाह के बारे में पहले कुछ विचार प्रकट कर चुके हैं। नदी के प्रवाह की तरह हर समय हमारे मन में भाव, विचार और नाना प्रकार के अनुभवों का प्रभाव बहा करता है। हमारी चेतनता की दशा में यह बराबर जारी रहता है। कुछ मनोवृत्तियां विशेष रूप से ध्यान में प्रत्यक्ष रहती हैं और शेष प्रच्छन्न रहती हैं। परन्तु बहाव जारी रहता है और जो मनोवृत्ति अभी ध्यान में प्रत्यक्ष है वह थोड़ी देर में ध्यान से हट जाती है और जो प्रच्छन्न रहती हैं उनमें से कुछ ध्यान में आ जाती हैं। चेतना-प्रवाह अनवच्छिन्न रूप से जारी रहता है। मन यह निश्चित करता है कि कोई मनोवृत्ति कितनी देर तक ध्यान में रहेगी, अथवा कौन-सी मनोवृत्ति प्रत्यक्ष रूप से ध्यान में रहेगी और कौन-सी प्रच्छन्न रूप से। चेतना-प्रवाह एक प्रकार से मन के अधीन है। मन के चेतना-प्रवाह में से कुछ वृत्तियों को चनने और उनको ध्यान में रखने की क्रिया का नाम अवधान है। मान लीजिए कि जाड़े के दिनों में हम धूप में कुरसी डालकर प्रेमचन्द के एक उपन्यास को पढ़ रहे हैं। हमारे पास एक मेज रक्खी है जिस पर एक घड़ी टिकटिक कर रही है। हमारे हाथ में एक पेन्सिल है, इत्यादि इत्यादि। जिस समय हम बैठे पढ़ते हैं उस समय घड़ी बराबर टिकटिक करती है, उसकी आवाज कान में पड़ती है, सूर्य की गरमी देह पर असर करती है और शरीर गरमाहट का अनुभव करता है, शरीर को कुरसी की मुलायम गद्दी की मुलायमियत का अनुभव होता है, किताब हाथ में है उसका बोझ भी हाथ को ज्ञात होता है, कहानी और जो विचार पुस्तक में है वह मन में पहुँचते रहते हैं। हम एक साथ ये और इसी तरह के बहुत-से अनुभव करते रहते हैं। अगर कोई पढ़ने के समय की पूरी चेतना का विश्लेषण करे तो उसे प्रतीत होगा कि ये सब बातें और और भी अनेक बातें, जिनका हमने वर्णन नहीं किया, मिलकर हमारी उस समय की चेतना को बनाती हैं। हमारा ध्यान चेतना की इन समस्त बातों में से केवल कहानी पर ही रहता है। दूसरी बातों का अनुभव होता रहता है परन्तु वे हमारे ध्यान में नहीं रहतीं। यह कहना ठीक न होगा कि हम दूसरी बातों का अनुभव करते ही नहीं। हम अनुभव सब बातों का करते हैं परन्तु हमारे ध्यान के केन्द्र में केवल कहानी ही रहती है। यदि एकाएक ऐसा हो कि कोई बात

जो कि हम अनुभव कर रहे हैं बदल जाय—मान लीजिए कि कुरसी टूट जाय, या घड़ी का टिकटिक शब्द बन्द हो जाय, या बादल सूर्य को ढक ले और वर्षा होने लगे तो हमको स्थिति का अन्तर तुरन्त ज्ञात हो जायगा। हमारा ध्यान उधर चला जायगा। अनुभवों के समूह के उस भाग को अथवा चेतना के उस अङ्ग को जो कि प्रच्छन्न रहता है वृथा न समझना चाहिए। वह मन के ऊपर असर अवश्य करता है और हमारा ध्यान किधर से किधर दौड़ेगा इस बात को निश्चय करता है। चेतना का दूसरा अङ्ग जो हमारे ध्यान में है वह कब तक हमारे ध्यान में रहेगा और कितनी बातें एक समय हमारे ध्यान में रह सकती हैं इन सब बातों पर आगे चलकर विचार करेंगे। कहानी पर हमारा ध्यान रहता है परन्तु कभी कभी उससे भागता भी है, फिर मन कहानी को रोचक पाकर ध्यान को उस ओर ले आता है। यह बात भी जानने योग्य है कि मन कितनी देर तक एक बात पर स्थिर रूप से ध्यान दे सकता है और कितनी देर बाद उससे उचट जाता है। इन सब बातों को जानने के लिए बहुत-से प्रयोग किये गये हैं जिनसे इससे सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी बातों का पता चलता है। हम इन प्रयोगों से प्राप्त केवल थोड़े से ही परिणामों पर विचार करेंगे।

(१) अवधान का विस्तार—"कितनी बातें ध्यान में एक समय रक्खी जा सकती हैं" इस बात के जानने के लिए अनेक वैज्ञानिक क्रियाएं की गई हैं। ध्यान देनेवाले के सामने बिन्दियां, लकीरें, गोलियां इत्यादि थोड़े से समय के लिए जो कि $\frac{५}{१००}$ सेकिंड से लेकर $\frac{१}{२}$ सेकिंड होता है रक्खे जाते हैं और यह पता लगाया जाता है कि वह एक, दो या कितनी वस्तुएं एकदम अर्थात् एक ही समय में ध्यान में रख सकता है। साधारण विश्वास यह है कि केवल एक समय में एक ही वस्तु ध्यान में रक्खी जा सकती है। अगर कई गेंद सामने रख दी जायें तो एक ही गेंद एक समय में ध्यान में रहेगी। परन्तु ऐसा नहीं है। क्रियाओं से यह पता चला है कि ध्यान में एक समय में ४ या ५ वस्तुएें रक्खी जा सकती हैं। ५ जुदे जुदे अक्षर जैसे क, प, ड, स, अ, एकदम आँख के सामने आते ही एक ही समय पहिचाने जा सकते हैं। वस्तुओं के बारे में एक बात और जाननी आवश्यक है। कुछ वस्तुएें जैसे अक्षर, बिन्दी, लकीर इत्यादि सरल वस्तुएं हैं, परन्तु कुछ वस्तुएं जैसे शब्द, रेखा-गणित की शक्लें, घर

इत्यादि मिश्रित वस्तुएँ हैं। घर एक अखिल वस्तु है, त्रिकोण भी ऐसा ही है। इनके पृथक् पृथक् भाग किये जा सकते हैं और इनका विश्लेषण और सरल वस्तुओं में किया जा सकता है। अवधान के सम्बन्ध में जो प्रयोग किये गये हैं उनमें यदि कई सरल वस्तुओं के मिश्रण से बननेवाली वस्तुओं का प्रयोग किया जाय तो भी वही नतीजा निकलता है। पाँच अक्षर जैसे ध्यान में रक्खे जा सकते हैं वैसे ही पाँच शब्द भी। कारण यह है कि मन तो वस्तु के अखिल रूप से ही सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है।

(२) **अवधान का विक्षेप**—अब प्रश्न यह है कि ध्यान कितने कितने समय के उपरान्त भङ्ग होता है। यह बात सोचने योग्य है कि जब हम किसी वस्तु पर ध्यान देते हैं तो कितने समय तक हमारा ध्यान बिना विक्षेप के उस वस्तु पर डटा रहता है। यह कहा जाता है कि अगर हम किसी काम में ध्यानमग्न हो जायँ तो घंटों हमारा ध्यान उसमें लगा रहता है। इससे यदि अगर यह समझा जाय कि हम इतनी देर तक उस काम को बिना थके कर सकते हैं अथवा व्यवसाय की सहायता से उस काम में लगे रहते हैं और दूसरी बातों को अपने ध्यान से दूर रखने का प्रयत्न करते हैं तो ठीक है। परन्तु यदि इसके यह अर्थ लगायें जायँ कि हमारा ध्यान घंटों तक भंग नहीं होता अर्थात् चेतना का कोई दूसरा अंग ध्यान के केन्द्र में नहीं आने पाता तो यह ठीक न होगा। हमारा ध्यान थोड़े थोड़े समय के बाद उचट जाता है और फिर उसी वस्तु पर खींच लाया जाता है। कभी ध्यान देने में व्यवसाय की आवश्यकता अधिक होती है और कभी कम।

किसी वस्तु पर ध्यान बराबर कितनी देर तक लगा रह सकता है इसके जानने के लिए भी क्रियाएँ की गई हैं। यदि एक घड़ी ली जाय और कान के पास रक्खी जाय तो टिकटिक की आवाज सुनाई पड़ती है। घड़ी थोड़ी दूर रक्खी जाय तो भी सुनाई देगी। धीरे धीरे दूर बढ़ाई जाय तो वह इतनी दूर पहुँचाई जा सकती है जहाँ से बिलकुल न सुनाई दे। अब एक घड़ी को लीजिए और उसे ठीक इतनी दूरी पर रखिए कि जहाँ से पूरा ध्यान देने से तो सुनाई दे पर यदि उस जगह से तनिक भी दूर रख दी जाय तो न सुनाई दे। क्रिया करते समय आगे पीछे हटाकर ऐसी ठीक जगह का पता लग

सकता है। हर विषयी (व्यक्ति जिस पर क्रिया की जा रही हो) के लिए दूरी अलग अलग होगी। विषयी को ठीक स्थान पर बिठाकर और घड़ी को उचित स्थान पर रखकर उससे कहना चाहिए कि ध्यान से घड़ी की टिकटिक को सुनो। वह ध्यान से सुनेगा और ध्यान को टिकटिक की आवाज पर लगाये रहेगा। थोड़े थोड़े समय के उपरान्त वह यह अनुभव करेगा कि आवाज लुप्त हो जाती है परन्तु फिर ध्यान देने से सुनाई देती है। जब तक आवाज (टिकटिक) सुनाई देती है उस समय तक समझना चाहिए कि अवधान में विक्षेप नहीं पड़ा। यदि विषयी से कहा जाय कि जिस समय ध्वनि लोप हो उसी समय उँगली उठा दे तो यह घड़ी देखकर पता लग सकता है कि कितने समय में अवधान में विक्षेप हुआ। क्रियाओं द्वारा ऐसा मालूम किया गया है कि साधारणतया हर ५ या ६ सेकंड के उपरान्त अवधान में विक्षेप होता है। विक्षेप होने का सबसे कम समय ३ सेकंड और सबसे अधिक समय २५ सेकंड पाया गया है। यह क्रिया केवल ऐसे कमरे में, जहाँ सम्पूर्ण शान्ति हो, की जा सकती है। अगर विषयी बहरा है या कम सुनता है तो दूसरे प्रकार के प्रयोगों से अवधान के विक्षेप का पता लग सकता है। ऊपर लिखा प्रयोग दूसरे प्रयोगों से सरल है इसलिए बताया गया है।

(३) इस बात का पता लगाने की भी चेष्टा की गई है कि एक व्यक्ति कितने कामों को एक ही समय में ध्यान से कर सकता है। कुछ लोग यह कहते हैं कि वे बिना ध्यान बँटे दो तीन काम एक साथ कर सकते हैं। ध्यान देने के अर्थ पर उन्होंने एक साधारण प्रयोग से पूरा विचार नहीं किया। इस बात के जानने के लिए निम्नलिखित क्रिया की जाती है। विषयी से कहा जाता है कि अक्षरों को १ मिनट तक लगातार लिखो। "अ, आ, इ, ई से आरम्भ करके पूरी पूरी वर्णमाला ज्ञ तक लिख डालो, समाप्त होने पर फिर अ से आरम्भ करो और आगे चलते चले जाओ।" यह लिखने का काम एक मिनट तक लगातार कराया जाता है और अन्त में जितने अक्षर विषयी लिख पाता है वह गिन लिये जाते हैं। इसके उपरान्त उससे कहा जाता है कि १, २, ३, ४ ....इत्यादि अङ्कों को ध्यान में रक्खो। हर अङ्क में ३ जोड़ो और जो उत्तर आवे उसे जोर जोर से बोलते चलो। वह ४, ७, १० ...बोलता चलता है। यह कार्य १ मिनट तक कराया जाता है और उसके कुल उत्तर गिन लिये जाते हैं। ये दोनों क्रियाएँ

पृथक् पृथक् करा लेने के उपरान्त उससे कहा जाता है कि इन दोनों क्रियाओं को एक साथ १ मिनट तक करो (अक्षर लिखो और जोड़कर अङ्क बोलो)। ऐसा कराने में यह पाया जाता है कि दोनों कार्य खराब हो जाते हैं और जितना कुल काम पहली रीति से हो सका था उतना कभी नहीं हो पाता। बात यह होती है कि इन दो कार्यों को एक साथ करने में ध्यान एक कार्य से दूसरे पर कूदता है और फिर लौटता है। ध्यान का दोलन होने लगता है। जिस कार्य की ओर वह दौड़ता है उसे विषयी अधिक कर डालता है और जिससे ध्यान हटता है उसी में कमी पड़ जाती है। इस सम्बन्ध में दो एक बातें और विचार करने योग्य हैं। एक तो यह कि जब हम दो काम एक साथ करते हैं तो उनमें से प्रायः एक ऐसा होता है जो कि यंत्रवत होता है और उसमें हमें ध्यान नहीं देना पड़ता। यह देखा गया है कि बुनते समय एक स्त्री साथ साथ अपने बालक को मौखिक रीति से पढ़ा भी सकती है। बुनने में ध्यान की आवश्यकता नहीं पड़ती; केवल पढ़ाने में पड़ती है। बुनने का काम उसके लिए यंत्रवत् हो गया है। हाँ, अगर कहीं बुनने में अशुद्धि हो जा या फन्दे छोटे वड़े करने हों तो उधर ध्यान देना पड़ेगा। बाइसिकल चलाना और साथ में वाद-विवाद करना इसी प्रकार एक साथ हो सकते हैं। दूसरी बात यह है कि अभ्यास का भी प्रभाव पड़ता है। सुना जाता है कि कुछ प्रतिभाशाली मनुष्य ऐसे हुए हैं जो दो तीन पत्र एकदम लिखा सकते थे। इसका कारण यह नहीं है कि वे दोनों में एक साथ ध्यान दे सकते हों। ऐसी वस्थाओं में ध्यान का दोलन एक काम से दूसरे काम पर जल्दी जल्दी कराया जाता है। धीरे धीरे इस बात की आदत डाल ली जा सकती है कि ध्यान को बिना प्रयास के जल्दी जल्दी दोलन कराया जा सके। कुछ व्यक्तियों के लिए ऐसी आदत डालना बड़ा कठिन है पर कुछ ऐसे भी होते हैं जो धीरे धीरे अभ्यास कर लेते हैं।

अवधान के प्रतिबन्ध—हम कह चुके हैं कि अवधान चेतना-प्रवाह में से कुछ वृत्तियों के चुनने की क्रिया है। हमारा मन उस प्रवाह में से कुछ बातों को चुन लेता है और हम उन पर ध्यान देने लगते हैं। हमारे मन में यह चुनने की शक्ति है इसलिए हम ऐसा कर सकते हैं, परन्तु प्रश्न यह सामने आता है कि मन कुछ वृत्तियों को तो चुनता है और उन्हें ध्यान में लाता है पर दूसरी वृत्तियों

को वह नहीं चुनता। यह जानने योग्य बात है कि उसका प्रयोजन किन बातों पर निर्भर है। चुनाव नियमानुसार ही होना चाहिए क्योंकि मन की कोई क्रिया ऐसी नहीं है जो बिना किसी नियम के होती हो। यह बात और याद रखनी चाहिए कि मन की यह क्रिया (ध्यान देने की) प्रायः उसकी इच्छा पर निर्भर है। हाँ, कभी कभी यह भी होता है कि कुछ वस्तुएँ और वृत्तियाँ अपने को उसके ध्यान में जबरदस्ती भी घुसा देती हैं।

पहले हम मन के प्रयोजन के बारे में विचार करेंगे। चुनने में मन का क्या अभिप्राय होता है। मन को किसी ओर चलानेवाली वस्तु प्राकृतिक प्रवृत्ति है। जिस ओर प्रवृत्ति ले जाती है उसी ओर मन को जाना पड़ता है। जब तक मनुष्य का मनोविकास नहीं होता तब तक सरल प्रवृत्तियाँ ही उसके मन पर अधिकार रखती हैं और उसे मार्ग बताती हैं। जैसा हम देख चुके हैं, पशु केवल प्रवृत्तियों ही के बल पर चलते हैं और उससे ऊपर उनका मनोविकास नहीं होता। आरम्भ में जब तक परिस्थिति का प्रभाव मनुष्य पर नहीं पड़ता उसका व्यवहार भी उच्च श्रेणी का नहीं होता। प्राकृतिक प्रवृत्ति ही मनुष्य के मन को वह बल प्रदान करती है जिसके कारण वह खास वस्तुओं पर ध्यान देता है और उनके साथ उक्त व्यवहार करता है। प्राकृतिक प्रवृत्ति की परिभाषा से ही विदित होता है कि वह प्राणी के मन को कुछ खास वस्तुओं पर ध्यान देने के लिए बाध्य करती है। इसी कारण बहुत-सी वस्तुएं ऐसी हैं जिनको देखते ही या और किसी प्रकार अनुभव करते ही हम उन पर ध्यान देने लगते हैं। एक छोटे से गोल गेंद को देखकर बिल्ली उसकी ओर आकर्षित होती है, उसे ध्यान से देखती है और हिलाती है। उसमें यह प्राकृतिक प्रवृत्ति है कि चलती हुई वस्तु, जिसका वह शिकार करके भोजन पा सकती है, उसके ध्यान को आकर्षित करे और वह उसकी ओर दौड़े। यह अवधान का एक बड़ा सरल रूप है। बालक के व्यवहार को देखने से भी यह पता चलेगा कि प्राकृतिक प्रवृत्ति उसके मन को कुछ वस्तुओं पर ध्यान देने के लिए बाध्य करती है। नन्हा बच्चा दूध की बोतल और स्तन की ओर बहुत ध्यान देता है; क्योंकि ये उसकी भूख को शान्त करने की चाह को पूरी करने में सहायता देते हैं फिर वह अपने चारों ओर चलते-फिरते लोगों की ओर ध्यान देता है क्योंकि ये उसकी अन्य चाहों को पूरी करते हैं। उसकी

चाह उसकी प्रवृत्तियों से ही उत्पन्न होती है। बड़े होने के उपरान्त लड़का उन वस्तुओं पर ध्यान देता है जो उसके स्थायी भावों से सम्बन्ध रखती हैं। अब वे बातें जो उसके घर, उसके स्कूल, उसके खेल इत्यादि से सम्बन्ध रखती हैं, उसका ध्यान आकर्शित करती हैं। इस प्रकार पहले तो मन को ध्यान देने के लिए प्रयोजन करने में प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ रास्ता दिखलाती हैं और फिर स्थायी भाव।

बालक को खेल की ओर युवक को रोचक वस्तुओं पर ध्यान देने में कुछ सोचना नहीं पड़ता। मन बिना कुछ प्रयत्न किये हुए ही उनकी ओर आकर्षित होकर ध्यान देने लगता है। बिना व्यवसाय के ही हम इस प्रकार का ध्यान देने लगते हैं। इसलिए इसको **अनैच्छिक अवधान** कहेंगे। बिना व्यवसाय के जो ध्यान दिया जाता है उसमें मन को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। इसलिए उसको किसी प्रकार की थकान नहीं होती और न किसी मानसिक शक्ति का व्यय ही होता है। अनैच्छिक अवधान उन सब वस्तुओं को दिया जाता है जो कि हमारी अपरोक्ष रुचि की हों। घर के लोगों पर ध्यान देने में अथवा अपनी रुचि के अनकूल वस्तुओं के बारे में सोचने से मानसिक थकावट नहीं होती। परन्तु जब हमें उन वस्तुओं और विचारों की ओर ध्यान देना पड़ता है जो हमारी रुचि के अनुकूल नहीं हैं, जैसे कि बालक के लिए गणित के प्रश्न लगाना, अथवा पाठ को याद करना, अथवा कोई लेख लिखना इत्यादि, तब हमें मानसिक थकावट होती है। मन बिना मानसिक थकावट के अपने को उस कार्य में लिये या लगाये नहीं रख सकता। मन को व्यवसाय का पूरा प्रयोग करना पड़ता है। ऐसा ध्यान जो कि सप्रयास होता है उसे **ऐच्छिक अवधान** कहेंगे। बहुत-से जीवनोपयोगी कार्यों में मनुष्य को इस अवधान को काम में लाना पड़ता है नहीं तो जीवन में सफलता प्राप्त हो नहीं सकती। हाँ, यह अवश्य है कि जितने उत्तम स्थायी भाव मनुष्य में शिक्षा-द्वारा उत्पन्न हो गये होंगे उतना ही अधिक वह जीवन के कर्तव्यों में अनैच्छिक अवधान दे सकेगा और उसे अपने मन को थकाना न पड़ेगा। स्थायी भाव उत्पन्न हो जाने के कारण ध्यान देने के लिए प्रयास की आवश्यकता अधिक नहीं पड़ती। मनुष्य में धीरे धीरे शिक्षा का यह प्रभाव पड़ता जाता है कि ऐच्छिक ध्यान देने के अवसर उसके सामने आते हैं।

हम अभी तक जिस अवधान के बारे में विचार कर आये हैं वह विषयीगत

है। विषयी के मन में जो प्राकृतिक अथवा अर्जित प्रवृत्तियाँ (जैसे स्थायी भाव) हैं, उन्हीं के कारण उसका मन वस्तुओं की ओर आकर्षित होता है और उसे ध्यान देना पड़ता है। विषयीगत अवधान का कारण मनोवृत्तियाँ होती हैं और ध्यान देना या न देना मन के अधीन होता है। अधिकतर तो अवधान विषयीगत ही होता है। परन्तु कभी कभी विषयात्मक अवधान भी होता है। कुछ वस्तुएँ जिनमें कि भौतिक शक्ति बहुत प्रवल होती है अपने को हमारे ध्यान में जवरदस्ती ले आती हैं। ऐसी वस्तु जिसमें से वड़ी तीव्र ज्योति निकल रही हो, अथवा जिसमें कोई कड़ी गन्ध हो, अथवा जोर की ध्वनि हो तो वह हमारे ध्यान को शीघ्र आकर्षित कर लेती है। हमारी रुचि ऐसी वस्तु को ध्यान में लाना चाहे या न लाना चाहे, हमारी प्रवत्तियाँ उस ओर ध्यान देना चाहें अथवा न चाहें, तो भी उपर्युक्त प्रकार की वस्तु केवल अपनी प्रवलता के कारण अपने को विषयी के ध्यान में डाल देती है। कोई आश्चर्यजनक नई वात हो तो वह हमारे ध्यान में तुरन्त आ जाती है। कोई वहुत छोटी या बहुत बड़ी वस्तु हो तो उस पर हम यान देने लगते हैं। वाजार में साधारण चलते फिरते मनुष्यों पर कोई ध्या न नहीं देता परन्तु यदि एक वौना दिखाई दे जाय या कोई वहुत मोटा पुरुष सामने आ जाय तो हम उस पर अवश्य ध्यान देने लगते हैं। बहुत-से दूकानदार विज्ञापन देने में इस वात का पूरा ध्यान रखते हैं और ग्राहकों को आकर्षित कर लेते हैं।

अव हम अवधान और रुचि के सम्बन्ध पर विचार करेंगे और यह देखेंगे कि इस सम्बन्ध के होने से अध्यापक को अपने कार्य में कहाँ तक सहायता मिल सकती है। अगर हम अपने सव व्यवहारों पर ध्यान दें तो हमें यह प्रतीत होगा कि वे अधिकतर ऐसे हैं जिनके करने में हमें रुचि रहती है। कुछ ऐसे भी हैं जिनमें हमें रुचि नहीं होती पर हमें वह करने पड़ते हैं। जव हम यह कहते हैं कि हमें किसी काम के करने में रुचि है तो उसका अर्थ यह होता है कि हम बिना कोई विशेष प्रयत्न के उस काम में अपने को लगा सकते हैं। उस काम में अपने मन को लगाने में कोई व्यवसाय नहीं करना पड़ता। वच्चा खिलौनों से बड़ी रुचि से खेलता है। गानेवाला वाजा बड़ी रुचि से बजाता है। तसवीर खींचनेवाला बड़ी रुचि से रंग भरता है। रुचि से वालक, जवान, वूढ़े सभी कुछ न कुछ काम कर सकते हैं। हमें यह जानने की आवश्यकता है कि कौन-से कार्य ऐसे हैं

फा० ५६

जिनके करने की हमें रुचि है और कौन-से ऐसे, जिनमें हमारी रुचि नहीं है। रुचि को हम विषय और विषयी दोनों की दृष्टि से देख सकते हैं। बच्चों को ही लीजिए। उनकी एक तो रुचि इन्द्रियविषयक पदार्थों में होती है। कोई नई चमकीली वस्तु हो, कोई मधुर ध्वनि हो, कोई मनोरंजक कार्य उनके सामने किया जा रहा हो तो बच्चों की रुचि उधर झुक जायगी। बालक की रुचि उत्तेजित करने के लिए अध्यापक कभी कभी इस बात का प्रयोग करता है। अध्यापक रंगीन चित्र, श्यामपट पर खिंचे हुए खाकों, हाथ से बनाये हुए नमूनों, आदि यथार्थ वस्तुओं का उपयोग बालकों की रुचि झुकाने के लिए ही करते हैं। बालक के लिए काम रोचक बनाने के अभिप्राय से इंद्रियों को आकर्षित करनेवाले पदार्थों का इस प्रकार कभी कभी उपयोग करना तो बुरा नहीं है परन्तु केवल उन्हीं पर भरोसा रखकर उनका अत्यधिक उपयोग करने से बालक का स्वभाव बिगड़ जाता है। जो रुचि इन्द्रिय-विषयक पदार्थों से उत्तेजित की जाती है, वह स्थिर नहीं होती और बालक को अधिक समय तक कार्य में प्रस्तुत नहीं रख सकती। यह रुचि बहुत ही क्षणिक होती है क्योंकि यह विषयात्मक होती है। स्थायी रुचि वही होगी जो कि विषयीगत हो। हम पीछे कह आये हैं कि उसी व्यवहार में प्राणी की सबसे अधिक रुचि होती है जो कि प्राकृतिक प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखता है और जिसमें वह स्वाभाविक रुचि के कारण दत्तचित्त होता है। अगर ऐसे रोचक काम के साथ किसी दूसरे काम का सम्बन्ध लगा दिया जाता है तो यह दूसरा काम भी रुचिकारक हो जाता है। जिन बातों में स्वाभाविक रुचि नहीं होती उनके साथ स्वाभाविक रुचिवाली बातों का सम्बन्ध कर देने से उनमें भी रुचि उत्पन्न हो जाती है और यह रुचि भी ऐसी स्वाभाविक हो जाती है जैसे कि पहले के काम में। मनुष्य को यदि पशुवत् छोड़ दिया जावे तो उसकी रुचि केवल उन्हीं कामों में होगी जो कि प्राकृतिक प्रवृत्तियों के अधीन हैं। परन्तु धीरे धीरे शिक्षा के कारण और परिस्थिति का प्रभाव पड़ते पड़ते प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ दबकर स्थायी भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार जो प्राकृतिक प्रवृत्तियों के साथ स्वाभाविक रुचियाँ होती हैं वह बदलकर स्थायी भावों के साथवाली अर्जित रुचियाँ हो जाती हैं। मनुष्य की सबसे बड़ी रुचि आत्मविषयक बातों में होती है। कुछ बातें ऐसी होती हैं जो साधारण समय में अरोचक मालूम पड़ती

हैं। किन्तु जब इन अरोचक बातों का सम्बन्ध मनुष्य के 'स्व' (स्वार्थों) से हो जाता है तब वे भी रुचिकर हो जाती हैं। बहुत-से लोग बिना रुचि के किसी रोजगार में लग जाते हैं। कुछ समय तक वह रूखा लगता है, परन्तु ज्यों ही उनके 'स्व' का सम्बन्ध उससे हो गया त्यों ही उन्हें उसी रोजगार में बड़ी रुचि उत्पन्न हो जाती है। हर सप्ताह में सरकारी गजट छपता है। उसमें साधारण रीति से हमें रुचि नहीं रहती। पर जब हम स्वयं सरकारी नौकर हो जाते हैं तब उसे बड़े चाव से पढ़ते हैं। बालक से अगर कहा जाय कि रेल का टाइमटेबल देखो तो वह कभी रुचिपूर्वक न देखेगा। परन्तु यदि उसे कोई यात्रा करनी होती है तो वह रुचिपूर्वक उसका अध्ययन करने लगता है। बालकों को रेल का टाइमटेबल देखना सिखाना बड़ा आवश्यक है। इसके लिए सबसे उत्तम रीति यही है कि भूगोल के पाठ में जहाँ रोचक यात्रा का वर्णन किया जा रहा हो वहाँ उसको बालकों के सामने उपस्थित कर दे।

ऊपर लिखी बातों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि रुचि और अवधान का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस काम में हमें रुचि होती है उसी में हम ध्यान देते हैं। जब हम रुचि से ध्यान देते हैं तब हमारे मन को परिश्रम नहीं करना पड़ता। जब कभी हम किसी काम में अनैच्छिक ध्यान देते हैं तब यह स्पष्ट है कि हमारी रुचि उसमें है। हमारी रुचि किन किन कामों में होती है और किनमें नहीं, अरोचक कामों में किस प्रकार उत्पन्न कराई जा सकती है, इन सबका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। यदि अध्यापक चाहता है कि बालक ध्यान दें तो उसका यह कर्तव्य है कि काम को बालकों के लिए रोचक बनावे। यदि वह स्वाभाविक रोचकता से हो सकता है तो ठीक है, नहीं तो धीरे धीरे अर्जित रोचकता उत्पन्न करने की चेष्टा करनी चाहिए। वह जितनी ही अधिक रुचि से काम लेगा उतना ही अधिक अनैच्छिक ध्यान उसे मिल सकेगा। यह कहना तो मिथ्या है कि अनैच्छिक ध्यान सदैव मिल सकता है। ऐसे अवसर अवश्य सामने आते हैं जब कि प्रयास की आवश्यकता पड़ती है। बालक को अपने व्यवसाय को काम में लाना पड़ता है और ऐच्छिक अवधान देना पड़ता है।

हमने रुचि के महत्त्व को अधिक माना है। वर्तमान काल के शिक्षा-

शास्त्र में उसका महत्त्व सभी मानते हैं। कोई अध्यापक ऐसा नहीं है जो इस बात पर जोर न देता हो कि स्कूल के कार्य में बालक को ध्यान देना चाहिए। पर वर्तमान काल में साथ ही साथ इस बात पर भी जोर दिया जाता है कि काम मनोरंजक और बालक के लिए रोचक हो। लोग रुचि के इस आदर्श की समालोचना भी करते हैं और कहते हैं कि रुचि का महत्त्व ऊंचा करके मनोविज्ञान-वेत्ताओं न वर्तमान काल के शिक्षा-शास्त्र को सरल ही नहीं बल्कि पिलपिला बना दिया है। रुचि का बखान करके सब कार्य इतना सरल कर दिया गया है कि बालक को, उन कठिन कामों के करने के लिए, जो उसे अपने जीवन में करने पड़ेंगे, निकम्मा कर दिया जाता है। उसको कठिन और अरोचक काम करने का अभ्यास कराना चाहिए। कहना यही पड़ेगा कि इस प्रकार के समालोचकों ने रुचि के अर्थ को ठीक नहीं समझा। वे रुचि के इस आदर्श की तह तक नहीं पहुँचे। हम केवल उसी रुचि पर भरोसा नहीं रखते जो इन्द्रियों के आकर्षण से संबद्ध है और न उन स्वाभाविक रुचियों पर जो हमें केवल पदार्थों से आनन्द लेने और खेल-तमाशों और मनोरंजन में लगा सकती हैं। हम अपने बालकों में अर्जित रुचियों को, जो स्थायी भावों के साथ उत्पन्न होती हैं और उन रुचियों को जो मनुष्य को आत्मसम्मान के कार्यों की ओर झुकाती हैं, उत्पन्न करना चाहते हैं। इस प्रकार की रुचि का विस्तार इतना अधिक है कि उसके द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने मन को प्रसन्नता-पूर्वक जीवन के कठिन कार्यों में लगाकर उन पर पूरा पूरा ध्यान दे सकता है।

९—विचार-सम्बन्ध और स्मृति

IX. Association of ideas and Memory

मानसिक व्यवहार के एक मुख्य व्यापार के बारे में हम विचार कर चुके हैं। वह व्यापार चेतना-प्रवाह में से कुछ वृत्तियों का, ध्यान में रखने के लिए, प्रयोचन करना है। मन कुछ दूसरे प्रकार के व्यापार भी कर सकता है, उनमें से एक संसक्ति है। मन में प्रत्यय-सम्बन्ध बनाने की शक्ति है। इस शक्ति की सहायता से जितने भाव और विचार मन में आते हैं और जो पहले से उनमें होते ह उनका आपस में सम्बन्ध हो जाने में कारण व्यूहन किया जा सकता है। अगर मन म विचारों के व्यूहन करने की शक्ति न होती तो विचार और भाव बिलकुल बतरतीबी से मन में घसते और वहां अस्त-व्यस्त होकर पड़े रहते। इसका परिणाम यह होता कि मनुष्य की सब बातें ब-सिर-पैर की होतीं। जितने विचार बाहर से मन में पहुँचते हैं उनको मन एक क्रम से लेता है, और फिर उनको उन विचारों के साथ. जो उसमें पहले से वर्तमान हैं, क्रम से और विधि-पूर्वक सजा लेता है। मन के इस व्यवहार को विचार-सम्बन्ध कहते हैं।

विचार-सम्बन्ध मनोविज्ञान में कोई नई बात नहीं है। इस पर प्राचीन काल से बहुत विचार किया गया है। यहाँ तक कि मध्यकालीन समय में तो सारा मनोविज्ञान इस विचार-सम्बन्ध के नियमों पर निर्भर समझा जाता था। उस समय के मनोविज्ञानवेत्ता, जैसे मिल (Mill), स्पेन्सर (Spencer), ब्राउन (Brown) इत्यादि, इसी को सारे मानसिक व्यापार का मूल कारण समझते थे।, सारा व्यवहार—सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान से लेकर, स्मृति, तर्क इत्यादि तक सब—इसी के आधार पर समझाया जाता था। वर्तमान काल में विचार-सम्बन्ध का महत्त्व कम नहीं है परन्तु इसको इस रूप में मौलिक नहीं समझा जाता। मानसिक व्यवहार का एक रूप यह भी है। मन के मुख्य व्यापारों में एक मुख्य व्यापार प्रयोचन है, दूसरा यह संसक्ति, और तीसरा जिस पर हम अभी विचार करेंगे वह अविनाश है।

साधारण रीति से हम यह जानते हैं कि कोई अनुभव हमको दूसरी बार इसी लिए स्मरण हो आता है कि उसका हमारे विचारों से कुछ न कुछ सम्बन्ध है। गाँव में किसी समय बैलगाड़ी के पहिये से एक स्त्री का पैर कुचल गया था।

तो यह सम्भव है कि गाँव में उस जगह फिर कभी बैलगाड़ी देखते ही उस बात का ध्यान आ जावे और पैर कुचले जानेवाली दुर्घटना फिर स्मरण हो आवे। अगर किसी घटना के बारे में विचार-सम्बन्ध प्रबल है तो वह स्पष्ट स्मरण में आ जायगी परन्तु जो विचार-सम्बन्ध निर्बल है तो कुछ थोड़ा थोड़ा-सा ही स्मरण आयेगा और स्पष्ट रीति से सारी घटना याद न आ सकेगी। इस सम्बन्ध में एक बात यह भी ध्यान में रखनी चाहिए कि जब किसी अनुभव का पुनरुद्भावन होता है तो मन के सामने असली घटना की प्रतिमा आ जाती है। पहला अनुभव जितना प्रबल या निर्बल होता है उसी अनुसार स्पष्ट या धुँधली प्रतिमाएँ भी मन के सम्मुख आती हैं। जो बैलगाड़ी से पैर कुचलनेवाली दुर्घटना को हमने खूब ध्यान से देखा हो तो उसकी स्मरण-प्रतिमाएँ स्पष्ट होंगी और जो उस घटना को यों ही देखा है तो वैसी ही अस्पष्ट प्रतिमा सामने आवेगी। अगर हम अपने पुराने अनुभव की अन्तर्दृष्टि करें तो वह प्रतिमा हमारे सामने आ सकती है। इस बात के जानने के लिए कि प्रतिमा मन के सामने आ सकती है या नहीं हमें सोचना पड़ेगा और अपने अनुभव का विश्लेषण करना पड़ेगा। अगर हम किसी ऐसी प्रतिमा के बारे में विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि प्रतिमा असली अनुभव से बहुत मिलती है। केवल इतना ही नहीं है कि प्रतिमा असली अनुभव से मिलती हुई होती है, बल्कि स्मरण के आते ही मन पुराने अनुभव को फिर दूसरी बार अनुभव करने लगता है। स्कूल के घंटे को बजते नित्य सुनते हैं। घर पर किसी समय उस अनुभव को दोहराना चाहें तो मन के सामने वही टनटन की ध्वनि सुन ली जा सकती है। ध्यान लगाकर हम प्रतिमा की कल्पना कर सकते हैं।

प्रतिमाएँ कई प्रकार की होती हैं। भिन्न भिन्न व्यक्तियों की कल्पना-शक्ति इन भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतिमाओं के लिए ही नहीं होती। कोई किसी ओर तीव्र होता है और कोई किसी ओर। साधारण रूप से प्रतिमाएँ श्रवण, घ्राण, दृष्टि, स्पर्श, स्वाद की हो सकती हैं। जो अनुभव सुनकर प्राप्त किया गया हो, जैसे स्कूल के घंटे की टनटन अथवा रेल की सीटी की आवाज, इसकी श्रवण-प्रतिमा बनेगी। सूँघने से प्राप्त अनुभव की, जैसे गुलाब या चमेली की सुगन्ध या नाली की दुर्गन्ध की, घ्राण-प्रतिमा बनेगी। दृष्टि-द्वारा अनुभव प्राप्त

हुआ हो उसके लिए दृष्टि-प्रतिमा बनेगी। अधिकतर अनुभव दृष्टि-द्वारा ही होते हैं और करीब करीब सभी मनुष्यों में दृष्टि-प्रतिमा-कल्पना तीव्र होती है। कोई घर या वाटिका देखी हो तो आँख मींचकर उसे सामने ला सकते हैं। स्पर्श और स्वाद की भी प्रतिमा बनती है। अपनी कुरसी की गद्दी जिस पर हम बैठते हैं उसके गुदगुदेपन के अनुभव को हम फिर प्रतिमा-द्वारा कल्पना कर सकते हैं। इसी प्रकार जो मिठाई या खटाई चखी हो उसके स्वाद की प्रतिमा भी बना सकते हैं। प्रतिमा-कल्पना मानसिक क्रिया है। हर एक व्यक्ति की यह मानसिक शक्ति एक-सी नहीं होती। कुछ लोग श्रवण-प्रतिमा बनाने में तीव्र होते हैं तो दूसरे घ्राण-प्रतिमा बनाने में वैसे ही दक्ष होते हैं।

मनुष्यों की प्रतिमा कल्पना करने की तीव्रता जानने के लिए बहुत-से सरल प्रयोग किये जाते हैं जिनसे यह पता चल जाता है कि कौन-सी इन्द्रियों-द्वारा ज्ञान-प्राप्त किया हुआ अनुभव उनके मन में पुष्ट रीति से अङ्कित हो जाता है। अपनी कक्षा के बालकों के बारे में यह बात जानने से अध्यापक को बहुत सहायता मिल सकती है। कोई नया शब्द या बात सिखानी हो तो बालकों को उसका ज्ञान सभी इन्द्रियों-द्वारा दिया जाता है। शब्द की तसवीर दिखाई जाती है, उसका उच्चारण किया जाता है और इन दोनों में सम्बन्ध बाँध दिया जाता है जिससे वह मन में अङ्कित हो जाय। अगर अध्यापक को यह पता चल जाय कि हमारे बालक देखी हुई वस्तु की प्रतिमा सरलता से बना लेते हैं, परन्तु सुनी हुई बात की प्रतिमा उतनी सुगमता से नहीं बना पाते तो सुनानेवाले प्रयोग पर अधिक जोर देना चाहिए। प्रतिमा-कल्पना की योग्यता जानने के लिए बहुत सरल प्रयोग काम में लाये जा सकते हैं:—

(१) विषयी* से कहो कि दो या पाँच मिनिट तक वह लाल रंग की जितनी वस्तुएँ ध्यान में ला सकता है उनका नाम ले—जैसे लाल स्याही, लेटरबक्स इत्यादि। फिर उसको उतना ही समय दो और कहो कि जो वस्तुएँ मीठे स्वाद की हों, उनके नाम बतावे।

---

* जिस व्यक्ति पर कोई प्रयोग किया जाता है उसे मनोविज्ञान में विषयी कहते हैं।

(२) अपनी आँख मींचो और एक सीधी रेखा की प्रतिमा सामने लाओ। यह बताओ कि उस प्रतिमा की लम्बाई को जब चाहो छोटा बड़ा कर सकते हो या नहीं।

(३) एक दौड़ती हुई रेलगाड़ी की प्रतिमा अपने मन के सामने लाओ। (क) बताओ प्रतिमा स्पष्ट है या धुँधली। (ख) बताओ रेल की सीटी की आवाज और पटरियों पर चलने की आवाज कानों में आती है या नहीं। इत्यादि।

(४) कभी सिर में पीड़ा हुई हो उसकी कल्पना करो। क्या पीड़ा के अनुभव को फिर चेतना में ला सकते हो? क्या आँखों के सामने बँधे हुए माथे इत्यादि की प्रतिमा देख सकते हो?

हम विचार-सम्बन्ध की व्याख्या करते समय कह चुके हैं कि मन के सम्मुख जो विचार और भाव आते हैं वह उनकी संसक्ति कर सकता है। विचारों में इस सम्बन्ध का बाँधना नियमानुसार होता है। इन नियमों के जानने से अध्यापक को बहुत लाभ हो सकता है। यदि वह नये विचारों को ठीक समय और इन नियमों के अनुसार बालक के मन के समक्ष प्रकट करेगा तो उनका, अर्थात नये विचारों का, सम्बन्ध उन विचारों के साथ जो मन में पहले से उपस्थित हैं ठीक तरह से स्थापित हो जायगा और समय नष्ट नहीं होगा। पुराने विचारों के साथ नये विचारों के सम्बन्ध होने की क्रिया को सहचार कहते हैं। सहचार के बहुत से नियम बताये गये हैं; परन्तु हम केवल मुख्य नियमों पर विचार करेंगे। यह बात भी जानने योग्य है कि विचार-सम्बन्ध-बन्धन केवल किसी एक नियम पर निर्भर नहीं है। प्रायः दो या तीन नियमों का प्रयोग एक ही उदाहरण में पाया जा सकता है।

(१) **नवीनता**—'दूसरी बातें अगर बराबर हों तो एक विचार उपस्थित होने से उस दूसरे विचार का जिसका उससे नवीन सम्बन्ध हुआ है पुनरुज्जीवन हो जाता है।' अगर 'पुस्तक' शब्द किसी व्यक्ति के सामने उपस्थित किया जाय तो उसके मन में तुरन्त ही उस पुस्तक का स्मरण हो आता है जो कि वह उस समय या उससे कुछ ही पहले पढ़ रहा हो। कालिदास का नाम लेने से तुरन्त ही शकुन्तला नाटक का ध्यान आ जाता है, परन्तु अगर हम किसी समय मेघ-

दूत पढ़ रहे हों और उसके उपरान्त तुरन्त ही कोई कालिदास का नाम ले तो नवीनता के कारण मेघदूत पुस्तक का नाम हमारे मन में उपस्थित हो आवेगा। किसी मित्र का नाम लेने से बहुधा वह घटना जो कि उसके साथ हाल ही में हुई हो ध्यान में आ जाती है और दूसरी पुरानी घटनाओं का ध्यान विलम्ब से होता है।

(२) अभ्यास—'दूसरी बातें अगर बराबर हों तो एक विचार उपस्थित होने से उस दूसरे विचार का जिसका उससे बार बार सम्बन्ध बँधा होगा। पुनरुज्जीवन होता है।' अगर हरा रंग किसी व्यक्ति के सामने कहा जाय तो उसके मन में घास का ध्यान आ जाता है। उसका कारण यही है कि घास को उसने बहुत देखा है और यह अनुभव किया है कि उसका रंग हरा होता है। यह भी देखा गया है कि आदत के कारण नवीन विचार पर उतना ध्यान नहीं जाता जितना कि उस विचार पर जिसका बार बार प्रयोग किया जाता है। यदि कई व्यक्तियों को एकत्रित किया जाय और एक ही शब्द उन सबों के सामने उपस्थित किया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति के मन में पृथक् पृथक् भावों का पुनरुज्जीवन होता है। 'नीला' कहने से कुछ को आकाश का ध्यान आयेगा क्योंकि उसे सदा देखते हैं, कुछ जो समुद्र-यात्रा करते हैं उन्हें समुद्र का ध्यान आयेगा और आकाश का नहीं। जिसको जिस प्रकार का अभ्यास हो जाता है, जो कोई जिस प्रकार का काम करता रहता है उसके मन में उसी के अनुकूल नया भाव उत्पन्न हो जाता है। अध्यापक के सामने 'कोश' का नाम लीजिए तुरन्त ही अमरकोश, शब्दार्थपारिजात इत्यादि उसके ध्यान में आ जावेंगे। वही 'कोश' किसी महाजन के सामने कहने से उसे अपने खजाने का स्मरण हो आयेगा न कि शब्दार्थपारिजात का।

अभ्यास से मिलता हुआ एक नियम रुचि का भी माना जाता है। कुछ विद्वान् इन दोनों को पृथक् मानते हैं किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है। इनका कथन यह है कि जब किसी व्यवहार में रुचि हो जाती है तो मनुष्य उस व्यवहार को बार बार करने की चेष्टा करता है और उसके सारे विचार-सम्बन्ध उसी मार्ग में बनते हैं। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति को मनोविज्ञान में रुचि है, उसको सदा उसी का ध्यान रहता है।

'पुस्तक' शब्द का नाम लेते ही उसके मन में सदा मनोविज्ञान की किसी पुस्तक का पुनरुज्जीवन होगा। दूसरे विषयों की पुस्तकों के नाम का स्मरण नहीं आवेगा।

(३) प्रथमता—'किसी विचार के उपस्थित होने से दूसरे उस विचार का जिसका उससे सबसे पहले सम्बन्ध बँधा हो, पुनरुज्जीवन होता है।' सबसे पहला असर और विचार-सम्बन्ध बहुत पुष्ट हुआ करता है। किसी नई बात का अभ्यास किया जाय तो उसमें सबसे प्रथम जो क्रिया की जाती है वह ध्यान में पुष्ट हो जाती है। कविता की पहली पंक्ति सुगमता से कण्ठस्थ हो जाती है। किसी व्यक्ति के बारे में पहले जो प्रतिपत्ति होती है उसका असर बहुत पक्का होता है।

(४) प्रबलता—'किसी विचार के उपस्थित होने से दूसरे उस विचार का, जिसका उससे बड़ी प्रबलता से सम्बन्ध बँधा हो, पुनरुज्जीवन होता है।' किसी अनुभव में जो भाव बड़ी प्रबलता के साथ आता है उस भाव का पुनरुज्जीवन बड़ी सुगमता से होता है। उसका प्रभाव चित्त पर इतना गहरा पड़ जाता है कि उसके सामने उसके प्रतिस्पर्धी भावों को प्रभाव डालने का अवसर ही नहीं मिलता। लड़कपन की बातें इतनी प्रबलता से मन पर असर कर जाती हैं कि उनका बड़ी स्पष्ट रीति से स्मरण हो आता है। एक भयङ्कर काले कुत्ते ने एक बालक के सहपाठी को जोर से काट लिया, रुधिर बहुत निकला। इससे काटे बालक को बुखार आया, उसने बहुत कष्ट पाया। देखनेवाले बालक के मन में यह घटना इतने प्रबल रूप से असर करती है कि किसी काले कुत्ते को सड़क पर देखते ही अपने मित्र के काटे जाने और उसके कष्ट का स्मरण तुरन्त हो आता है। यदि बालक के मन पर इस घटना के प्रभाव की प्रबलता अत्यन्त अधिक होगी तो सम्भव है कि कुत्तों की ओर से बालक को घृणा हो जाय। बहुत-से बालक बचपन की प्रबल घटनाओं के कारण बहुत-सी वस्तुओं से डरने या प्रेम करने लगते हैं।

विचार-सम्बन्ध के दो मूल नियम माने जाते हैं। एक तो अव्यवधान का नियम कहलाता है और दूसरा समानता का।

(१) समानता—'दो अनुभव जो कि समान होते हैं उनमें सम्बन्ध सरलता से बन जाता है और एक के ध्यान में आने से दूसरे का पुनरुज्जीवन

सुगमता से हो जाता है।' रामलाल और श्यामनारायण दो लड़कों की शकल बहुत कुछ मिलती है। उन्हें दरजे में देखते रहने से विचार-सम्बन्ध बँध गया है। अध्यापक को कभी रामलाल का स्मरण हो आता है तो श्यामनारायण का भी ध्यान तुरन्त आ जाता है। हमारे मन में प्रायः तरङ्गें उठती रहती हैं। उनमें भी इसी नियम का प्रभाव देखने में आता है। जब एक वस्तु पर ध्यान जाता है तब उससे मिलती हुई दूसरी वस्तु भी धीरे धीरे ध्यान में आ जाती है।

(२) अव्यवधानता—'वे बातें जो कि साथ साथ एक ही समय में या एक ही स्थान पर अनुभव की जाती हैं एक दूसरे से गँठ जाती हैं, और एक के ध्यान में आने से दूसरे का पुनरुज्जीवन सरलता से हो जाता है।' किसी चौराहे पर एक ठेला और मोटरकार एक समय ही निकला करते हैं। इन दोनों में विचार-सम्बन्ध बँध जाता है और उस मोटर का ध्यान आने से ठेले का पुनरुज्जीवन भी हो जाता है। यह नियम साथ साथ और लगातार एक दूसरे के बाद होनेवाले दोनों प्रकार के विचारों पर लागू है। एक बरात निकलती है, उसमें पहले-पहल घुड़सवार हैं, उसके पीछे एक हाथी है, फिर चार घोड़ा-गाड़ियाँ हैं, फिर एक पालकी है इत्यादि इत्यादि, तो देखनेवाले के मन में आगेवाली वस्तु के साथ उसके पीछेवाली का सम्बन्ध जुड़ जाता है। घोड़ा-गाड़ी के ध्यान में आने से उसके आगेवाला हाथी और उसके पीछेवाली पालकी ध्यान में आ जाती है। जब कोई कण्ठस्थ की हुई कविता दोहराई जाती है तो पहला पद कहने से दूसरा भी स्मरण हो आता है। जब रटे हुए पहाड़े बोले जाते हैं तो एक कड़ी बोलने से उसके आगे की कड़ी भी ध्यान में आ जाती है।

हमने इतने नियमों का उल्लेख किया है परन्तु मनोवृत्तियों का मामला इतना मिश्रित और पेचीदा है कि विचार-सम्बन्ध में किस समय किस नियम का प्रयोग हुआ इस बात को निश्चय करना बड़ा कठिन है। मन सदा एक ही नियम का प्रयोग नहीं करता। एक ही विचार का पुनरुज्जीवन भिन्न भिन्न नियमों से भिन्न भिन्न पुरुषों में और भिन्न भिन्न समय भिन्न भिन्न रूप में हो सकता है। इतनी स्वतन्त्रता होते हुए भी विचार-सम्बन्ध बनने में ऊपर बतलाये हुए साधारण नियमों का पालन अवश्य होता है। अध्यापक को इन नियमों

के अनुसार कार्य करने से शिक्षा के काम में बड़ी सहायता मिलती है। नवीन विद्या के सीखन में पुराने भावों के साथ नये भाव मिलाये जाते हैं अर्थात् उनमें सम्बन्ध उत्पन्न किया जाता है। ज्ञात के साथ साथ अज्ञात का थोड़ा थोड़ा सम्बन्ध करते करते अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है।

मन के व्यापार के बारे में हम फिर विचार करेंगे। मन की दो शक्तियों की व्याख्या हो चुकी है—प्रयोजन, जिसके बल से मन वृत्तियों को चुनता है और ध्यान में रखता है, और संसक्ति, जिसकी सहायता से वे वृत्तियाँ और विचार जो मन में प्रवेश करते हैं अव्यवस्थित रूप से नहीं घूमते किन्तु उसका उन विचारों से जो मन में होते हैं नियमानुसार सम्बन्ध बँध जाता है। एक और शक्ति मन में होती है। वह सबसे मुख्य है और यदि मनुष्य के मन में वह न हो तो मनुष्य इस संसार में कुछ काम नहीं कर सकता। वह शक्ति अविनाशत्व है। जो कुछ अनुभव मन को किसी मार्ग-द्वारा होता है वह मन पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य छोड़ जाता है और मन उस प्रभाव की रक्षा करने की चेष्टा करता है। मन की इस अविनाशत्व की शक्ति के कारण हम यह कह सकते हैं कि हमारे मन में एक प्रकार का भंडार है और हम कुछ मानसिक सम्पत्ति रखते हैं। जब आवश्यकता होती है हम उसका स्मरण करते हैं, भावों और विचारों का पुनरुज्जीवन करते हैं और अपने व्यवहार में सफलता प्राप्त करते हैं। यदि हम अपने अनुभवों के प्रभाव को रक्षित और संचित न रख सकतेतो हमारे पास कोई मानसिक पूँजी न होती और हमें किसी नये कार्य में मानसिक सहायता न मिलती। अविनाश की इस शक्ति को स्मरण-शक्ति भी कहते हैं।

स्मरण-शक्ति का ज्ञान बहुत प्राचीन है। परन्तु पुराने और वर्तमान मनोविज्ञान में इस शक्ति के विवरण में कुछ मत-भेद है जिसका जानना आवश्यक है। यह मत-भेद कुछ मौलिक सिद्धान्तों में भेद होने के कारण है। मत-भेद इस बात पर है कि अनुभव का रक्षण किस प्रकार होता है। पुराना विचार यह है कि जो कुछ अनुभव एक समय में होता है वह ज्यों का त्यों मन के भण्डार में जमा हो सकता है। हमारे सविकल्पक विचार, भाव, प्रत्यक्ष ज्ञान ये सब वस्तुओं के समान हैं जो मन में जमा कर दिये जाते हैं। हम जैसे बैंक में जमा हुए धन

में से निकाल सकते हैं उसी प्रकार विचार-सम्पत्ति में से विचारों का पुनरुज्जीवन कर सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मन को भण्डार मानना पड़ता है। अनुभवों को स्थिर वस्तु समझना पड़ता है। और इस सिद्धान्त के अनुसार पुनरुज्जीवन की क्रिया का यह अर्थ है कि जो पहला अनुभव था वह ज्यों का त्यों जमा में से निकालकर सामने प्रत्यक्ष रख दिया जाता है। असली बात यह है कि विचार, भाव, सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान कोई स्थिर वस्तुएँ नहीं हैं। वे तत्त्व नहीं हैं। वे वृत्तियाँ हैं, जो कि उत्पन्न होती हैं और चली जाती हैं। कोई भी वृत्ति प्रत्येक बात में किसी दूसरी वृत्ति के समान नहीं हो सकती। यदि हम किसी वस्तु के बारे में दो बार सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करें तो वे एक-से नहीं होते। अनुभव कभी स्थिर हो ही नहीं सकते। इस कारण उनका भंडार में जमा हो जाना मिथ्या है। वे मन पर प्रभाव अवश्य करते हैं और अनुभव हो जाने के उपरांत मन में जो पूँजी बढ़ती है वह केवल यह प्रभाव है। यह प्रभाव एक ओर भौतिक मस्तिष्क पर पड़ता है और दूसरी ओर अशरीरी मन पर। मस्तिष्क और मन दोनों में परिवर्तन हो जाता है। मन इसी परिवर्तन या प्रभाव का ही रक्षण या संचय करता है। जब हम यह कहते हैं कि मन में अविनाशत्व की शक्ति है तब हम यही समझते हैं कि वह इस प्रभाव का रक्षण कर सकता है न कि यह कि वह सब पुरान अनुभवों को ज्यों का त्यों जमा रखता है। यह हम अवश्य मानते हैं कि कोई अनुभव ऐसा नहीं होता जो कुछ न कुछ प्रभाव न छोड़ जाय। प्रभाव कितना ही हलका और दुर्बल क्यों न हो मन में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य कर देता है। कोई प्रतिपत्ति वृथा नहीं जाती है। इसलिए अध्यापक को यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि वह बालक को बुरी प्रतिपत्तियों से दूर ही रक्खे और जहाँ तक हो सके उसके सामने उत्तम व्यवहार ही उपस्थित करे, नहीं तो उस पर बुरी बातों का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ ही जायगा।

हम स्मरण के साथ शक्ति शब्द का प्रयोग करते आये हैं। इस शक्ति के नये और पुराने अर्थ को भी स्पष्ट कर देना चाहिए। शक्ति शब्द का अर्थ कोश में नहीं बदला परन्तु स्मरण-शक्ति वाक्य में शक्ति शब्द को काम में लाते हुए जो हम पहले समझते थे वह अब नहीं समझते। पहले यह समझा जाता था कि

स्मृति एक शक्ति है जो पुरानी बात को हमारे सामने लाती है। यदि यही हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि जिन बातों की आवश्यकता हमको सबसे अधिक है उन्हें बिना प्रयास ही हमारे मन के सामने आ जाना चाहिए। और यह भी होना चाहिए कि एक प्रकार की विद्या सीखने से स्मृति में ऐसा बल आ जाय कि दूसरे प्रकार की विद्या सीखने में सुविधा हो। किन्तु हम यह पाते हैं कि अगर कोई एक विषय में अच्छा है और पुरानी बातों को सुगमता से याद कर सकता है तो वह दूसरे विषय में ऐसा नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो कि गणित-शात्र में पारङ्गत हैं, उन्हें गणित आता है परन्तु इतिहास में अनभिज्ञ हैं। उन्हें इतिहास याद ही नहीं होता। असली बात यह है कि स्मृति कोई सर्वगत शक्ति नहीं है, बल्कि वह एक मानसिक क्रिया है और उसका काम विचार-श्रेणी पर निर्भर है। जिसकी विचार-श्रेणी गणित-शास्त्र के सिद्धान्तों से भरी है उसे इतिहास सीखने में गणित-शास्त्र से कोई विशष सहायता नहीं मिलती। इतिहास सीखने के लिए उस दूसरी विचार-श्रेणी बनानी पड़ती है। इस सम्बन्ध में अब यह मत है कि स्मरण-शक्ति एक सर्व-ज्ञान-निष्ठ साधारण शक्ति न होकर अनेक शक्तियों का समूह कही जा सकती है। वहाँ भी शक्तियों का प्रयोग करते हुए हम इस पर जोर देंगे कि स्मृति मानसिक क्रिया है। एक विचार-श्रेणी (जैसे गणित) की स्मृति-शक्ति में उन्नति होने से सब विचार-श्रेणियों (जैसे इतिहास, भूगोल) की स्मृति-शक्तियों में उन्नति नहीं हो जाती। एक विचार-श्रेणी की दक्षता दूसरी विचार-श्रेणी के सीखने में उतनी ही सहायता दे सकती है जितना सम्बन्ध दोनों विचार-श्रेणियों में होता है।

स्मृति के बारे में ठीक ठीक हाल जानने के लिए वर्तमान काल में बहुत-से प्रयोग और क्रियाएँ की गई हैं। मनोविज्ञान में शायद ही ऐसा कोई विषय हो जिस पर परीक्षात्मक मनोविज्ञानवेत्ताओं ने अपना ध्यान न दिया हो। स्मृति की परीक्षाओं में समय और ध्यान दोनों ही बहुत लगते हैं तिस पर भी उन्होंने इस विषय में रुचिपूर्वक परीक्षाएँ की हैं। कुछ निम्नलिखित बातों पर विशेष रीति से काम किया गया है—

(१) स्मृति का विस्तार, (२) स्मृति और विस्मृति, (३) हृदयस्थ करने की रीतियाँ (४) प्रत्यभिज्ञा और पुनरुद्भावन, (५) स्मृति और

अभ्यास। हम केवल उन्हीं प्रयोगों पर विचार करेंगे जो अध्यापक के कार्य पर प्रकाश डाल सकते हैं।

स्मृति के दो रूप माने गये हैं—एक तो अनन्तर स्मृति और दूसरी स्थिर स्मृति। कुछ प्रयोगों में इनका जिक्र किया गया है इसलिए इस भेद को जानना आवश्यक है। जो कुछ याद किया गया हो उसका या तो तुरन्त ही पुनरुद्भावन किया जाता है या कुछ समय (कुछ घण्टे या दिन) बीत जाने के उपरान्त। जिस स्मृति के कारण हम तुरन्त पुनरुदभावन कर सकते हैं उसे अनन्तर स्मृति कहते हैं और उसको, जिसके कारण कुछ समय बीतन के पश्चात् करते हैं, स्थिर स्मृति कहते हैं। यह हो सकता है कि दो व्यक्तियों में इन दोनों स्मृतियों की शक्ति में बहुत फेर हो।

(१) स्मृति का विस्तार—विस्तार केवल अनन्तर स्मृति का ही मालूम किया जाता है। स्मृति की क्रियाओं में विषयी को याद करान के लिए सदा निरर्थक शब्दों के टुकड़ दिये जाते हैं जैसे 'कख, खच, जह, लन...'। सार्थक शब्द नहीं दिये जाते क्योंकि बहुत-सी विचारश्रेणियाँ बँधी हुई होने के कारण विषयी उन्हें उन सम्बन्धों की सहायता से याद कर लेता है। फिर एक विषयी को दूसरे की अपेक्षा ऐसा करने में अधिक या कम सहायता मिल सकती है; और दोनों की तुलना नहीं की जा सकती। इस कारण निरर्थक शब्दों का प्रयोग करना उत्तम समझा गया है। बहुत-से शब्दों के टुकड़े ले लिये जाते हैं और वह विषयी के सम्मुख सुनाकर या दिखाकर उपस्थित किये जाते हैं। एक बार उपस्थित करने के उपरान्त उससे कहा जाता है कि जितने याद रहे हों दुहराओ। वह जितने अधिक टुकड़े दुहरा सकता है उतना ही उसका स्मृति-विस्तार अधिक होता है। अनन्तर स्मृति आयु के साथ बढ़ती है। बालक की स्मृति किसी समय युवा से अधिक नहीं होती। इसकी वृद्धि १३ वर्ष की आयु तक बहुत धीरे धीरे होती है। १३ से १६ वर्ष तक बहुत जल्दी होती है, और २२ से २५ वर्ष तक की अवस्था में वह अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। उसके उपरान्त कुछ समय बीतने पर थोड़ी थोड़ी घटने भी लगती है। अध्यापक के जानने योग्य एक बात यह भी है कि सात वर्ष का बालक ६ अक्षर से अधिक अक्षरों के शब्द

के हिज्जे ठीक नहीं कर सकता। बालकों को इमला लिखाते समय इसका ध्यान रखना चाहिए।

स्थिर स्मृति में हमको याद करते समय विचार-सम्बन्ध बाँधने पड़ते हैं। जितने प्रबल यह सम्बन्ध बँध जाते हैं उतनी ही सुगमता से और अधिक समय तक कोई बात याद रह सकती है। जिन नियमों और प्रयोगों से विचार-सम्बन्ध बँधते हैं उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

(२) हृदयस्थ करने की रीतियाँ—अध्यापक की दृष्टि से यह बात जानने के योग्य है कि यदि किसी गद्य के टुकड़े या कविता को कण्ठाग्र करना हो तो उसे किस रीति से करना चाहिए। कुल कविता या जितना गद्य याद करना हो उसे समस्त को कई बार दोहराकर याद करने की चेष्टा करनी चाहिए अथवा यह अच्छा होगा कि उसके छोटे छोटे टुकड़े कर लिये जायँ और टुकड़ों को एक-एक करके याद किया जाय। साधारण विश्वास यह है कि टुकड़े-टुकड़े करके याद करने सें सरलता से याद होता है और अधिक समय नहीं लगता। परन्तु परीक्षा-द्वारा यह बात सिद्ध हुई कि यह धारणा ठीक नहीं है। समस्त कविता या गद्य को दोहराने से वह अच्छी तरह याद होता है और समय भी कम लगता है। यह देखा गया है कि समस्त कविता लेकर याद करने की रीति २४० पंक्ति तक की लम्बी कविता के लिए उपयोगी है।

इस बात को जाँचने के लिए एक सरल प्रयोग किया जा सकता है। दो बराबर कठिनाई की कविताएँ या गद्य के टुकड़े लेने चाहिए। इस बात को देख लेना चाहिए कि दोनों की कठिनाई बराबर है। यदि एक में बहुत कठिन शब्द हुए और दूसरा बहुत सरल हुआ तो परीक्षा ठीक नहीं हो सकती। दोनों के नाम क और ख कविता मान लीजिए। क को सम्पूर्ण रीति से याद करो। सम्पूर्ण कविता को बार बार आरम्भ से अन्त तक दोहराओ। जब यह विश्वास हो कि कविता हृदयस्थ हो गई है तो जितनी याद हो उसे लिख डालो। जितना समय लगा हो उसे लिख लो और जितनी बार दोहराना पड़ा हो उसे भी लिख लो। फिर थोड़े समय अपने मन को विश्राम दो। कुछ घण्टे बीतने के उपरान्त ख कविता को टुकड़े करके एक एक टुकड़े को दोहराओ। एक टुकड़े को इतनी बार दोहराओ कि विश्वास हो जाय कि वह हृदयस्थ हो गया। उसके उपरान्त

दूसरे टुकड़े के साथ यही व्यवहार करो फिर तीसरे के साथ। जब सब टुकड़े हृदयस्थ हो जायँ तब कुल कविता को जहाँ तक याद हो लिखो। जितना समय इस सब में लगे और जितनी बार हर एक टुकड़े को दोहराना पड़े लिख लो। दोनों समयों को मिलाने से और दोनों का जितना भाग लिखा गया हो उससे पता लगेगा कि सम्पूर्ण रीति उत्तम है।

टुकड़ेवाली रीति में हर टुकड़े के अन्त को आगे के टुकड़े के आरम्भ से मिलाने के लिए विचार-सम्बन्ध बाँधना पड़ता है। इसमें समय लगता है। अगर टुकड़े न किये जायँ तो यह सम्बन्ध बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। प्रायः यह देखा जाता है कि जब बालक किसी कविता को टुकड़े टुकड़े करके याद करते हैं तो एक टुकड़ा कह देने के उपरान्त वह अटक जाते हैं। अगर आगे के टुकड़े का पहला शब्द उन्हें बता दिया जाय तो गाड़ी आगे चलने लगती है। विचार-सम्बन्ध अगर पुष्ट हों तो गाड़ी नहीं रुकती। फिर एक टुकड़े को पृथक् याद करने में यह होता है कि जब वह बार बार दोहराया जाता है तो विचार-सम्बन्ध उस टुकड़े के अन्त के भाग में और उसी के आरम्भवाले भाग में बँधता है। यह विचार-सम्बन्ध समस्त के याद करने में सहायक होने की जगह अड़चन डालता है। अगर वह उस टुकड़े के अन्त और दूसरे के आरम्भ में बँधे तो लाभ हो सकता है। यह अड़चन सम्पूर्ण रीति में नहीं पड़ती। फिर सम्पूर्ण रीति में सम्पूर्ण अर्थ भी विषयी के सामने रहता है। टुकड़े टुकड़े करके याद करनेवाली रीति में नहीं रहता।

सम्पूर्ण रीति मनोविज्ञान की दृष्टि से अवश्य उत्तम मानी जाती है परन्तु इसको बालकों को याद कराने में प्रयोग करने के लिए कुछ बातों का विचार करना पड़ता है। सीखने और याद करने में सीखनेवाले अथवा याद करने-वाले की रुचि का प्रश्न भी विचारणीय है। जब बहुत बड़ी कविता या टुकड़ा याद करने को होता है तो बालक की रुचि बीच बीच में हटती है और वह ध्यान नहीं देता। उसे मानसिक थकावट भी मालूम होती है। लम्बा-चौड़ा कार्य देखते ही बालक हताश हो सकता है। इस सबको जानने के लिए भी क्रियाएँ की गई हैं और एक दो बातों का पता चला है। १२ वर्ष से ऊपरवाले लड़कों के लिए सम्पूर्ण रीति बहुधा उत्तम पाई गई है। बालक-मात्र के लिए

अगर २० लकीर से बड़ा टुकड़ा या कविता न हो तो सम्पूर्ण रीति लाभदायक होगी। गोपालस्वामी (Gopalaswami) ने एक मिली-जुली रीति बालकों के लिए बताई है और वह बहुधा ठीक पाई जाती है। उसमें कविता को टुकड़ों में पहले बांट लिया जाता है फिर पहले एक टुकड़े को याद किया जाता है तब दूसरे टुकड़े को। इसके उपरांत पहले और दूसरे दोनों टुकड़ों को मिलाकर सम्पूर्ण को याद किया जाता है। तब तीसरे टुकड़े को याद करते है और फिर पहले, दूसरे और तीसरे इन तीनों टुकड़ों को मिलाकर। इसी प्रकार आगे बढ़ते जाते हैं और सबको पूरा कर डालते हैं। चाहे कोई रीति काम में लाई जाय, ध्यान लगाये बिना बालक कभी नहीं याद कर सकता। इसलिए इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए।

याद करने के बारे में एक जानने योग्य बात और निश्चित की गई है। अगर मान लिया जाय कि हमको कुछ बातें याद करनी हैं, और समय की कोई न्यूनता नहीं है, तो आगे दी हुई दोनों में से कौन-सी रीति उचित होगी (१) सब बातें एक दिन बहुत बार दुहराकर याद कर डालना या (२) थोड़ा थोड़ा प्रतिदिन दोहराकर कई दिन तक यह काम जारी रखना। यदि समय नहीं है तो एक दिन ही सब करना पड़ेगा। कुछ प्रयोग किये गये जिनमें याद करनेवाली बात को दोनों रीति से याद कराया गया। मान लीजिए कि ८ बार दोहराने से दी हुई बात याद हो जाती है। पहली रीति के अनुसार ८ बार दोहराने का काम एक ही दिन कर डाला गया और दूसरी रीति के अनुसार ४ दिन तक प्रतिदिन दो दो बार दोहराया गया और इस प्रकार वह बात ८ बार दोहराई गई। इस प्रयोग से यह पता लगा कि जब याद करने का काम कई दिन में फैलाया गया तो ठीक और अधिक याद हुआ। परीक्षा के लिए तैयारी करने में यह बात ध्यान रखने योग्य है। अधिक समय में फैलाकर याद करने में थकान कम होती है, विचार-सम्बन्ध पुष्ट बन जाते है और जो कुछ याद किया जाता है उसे मन में धीरे धीरे जम जाने का अवकाश मिल जाता है।

(३) विस्मृति—हम जो कुछ याद करते हैं, सीखते हैं या अनुभव करते हैं उसमें से बहुत कुछ समय बीतने से भूल जाते हैं। साधारण दृष्टि से यह बड़ी हानि की बात मालूम पड़ती है। परन्तु अगर विस्मृति न होती तो

कदाचित हमारे दु:ख का अन्त न होता। संसार में अनेक शोक, दु:ख, हानि, अपमान आदि के दूर करने का उपाय केवल विस्मृति है। बहुत-सी अनावश्यक बातें भी हम भूल जाते हैं जिनसे हम लाभ ही होता है। प्राय: ऐसा होता है कि आवश्यक बातें सिखाने के लिए कुछ अनावश्यक बातें भी बीच में लानी पड़ती हैं। यह कुछ समय में भूल जाती हैं। अगर यह न भूल जातीं तो आवश्यक को लिखते या बताते समय यह बहुत-सी अनावश्यक बातें वृथा बीच में आकर विघ्न डालतीं।

विस्मृति के बारे में भी परीक्षाएँ की गई हैं और यह पता चला है कि ज्यों ज्यों समय बीतता है त्यों त्यों भूलन (विस्मृति) की गति कम होती जाती है। सबसे अधिक बात याद करने के उपरांत ही भूल जाती है। एबिंगहाउस (Ebbinghouse) ने पता लगाया है कि जो कुछ याद किया जाता है उसका आधा भाग पहले आध घंटे में भूल जाता है, दो तिहाई ८ घंटे में और ४/५ भाग एक महीने में। भूलने की गति को देखकर दोहराने की आवश्यकता तुरन्त प्रतीत हो जाती है। याद कर लेने के थोड़े ही समय उपरांत ही फिर पुनरावृत्ति कर लेनी चाहिए क्योंकि उसी समय में सबसे अधिक विस्मृति होती है। जितना समय याद करने में देना चाहिए उसका आधा पुनरावृत्ति के लिए भी रखना चाहिए।

स्मृति और अभ्यास—अभ्यास से स्मृति में उन्नति हो सकती है या नहीं? अगर हो सकती है तो उसका प्रभाव सर्वव्यापी है या किसी विशेष ओर ही पड़ता है? यह भी प्रश्न ऐसे हैं कि जिनका उत्तर अध्यापक जानना चाहता है। अगर अभ्यास से सर्वव्यापी उन्नति हो सकती है तो एक कोई विषय याद करने से दूसरे सब विषयों पर उसका प्रभाव पड़ सकता है। परन्तु हम स्मृति को सर्वव्यापी शक्ति नहीं मानते। इसलिए ऐसा होना सम्भव नहीं। परीक्षाओं से भी यही सिद्ध होता है। हाँ, एक ही प्रकार के काम में अभ्यास से स्मृति में उन्नति पाई जाती है। अगर कविता याद करने में किसी व्यक्ति को अभ्यास कराया जाय तो कविता याद करने के लिए उसकी स्मृति में उन्नति हो सकती है परन्तु गणित याद करने में नहीं। हम कह चुके हैं कि स्मृति विचार-सम्बन्ध पर निर्भर है। एक विचार-श्रेणी की दक्षता दूसरी विचार-श्रेणी के सीखने में

उतनी ही सहायता देती है कि जितना सम्वन्ध दोनों विचार-श्रेणियों में होता है। गणित-पंडित को इतिहास सीखने में उतनी ही सहायता मिल सकती है कि जितना सम्बन्ध गणित और इतिहास की विचार-श्रेणी में है।

इस विषय का अन्वेषण करने के लिए एक प्रयोग किया गया है और अध्यापक उसे अपने दरजों में कर सकते हैं। मान लो दरज में ३० लड़के हैं। इन्हें तीन बराबर के समूहों में बाँटो। हर एक समूह में दस दस लड़के होंगे। मानसिक शक्ति में एक समूह के लड़के दूसरे समूहवालों के बराबर होने चाहिए। ऐसा न करना चाहिए कि छाँटकर अच्छे लड़के एक में और मूर्ख दूसरे में कर दिये जायँ। अगर समूह बाँटने में कठिनाई पड़े तो कुछ दिन याद करने का काम सम्पूर्ण दरजे से कराया जाय और यह पता लगा लिया जाय कि कौन कौन-से अच्छे, कौन कौन-से मध्यम और कौन कौन-से लड़के मन्द हैं। इन समूहों का नाम क, ख, ग रक्खो। क खड को ½ घटा प्रतिदिन कविता हृदयस्थ करने का काम एक महीने तक दो। ख खड को ½ घटा प्रतिदिन किसी भाषा का कोश याद करने का काम महीने भर तक दो। ग खड से इस प्रकार का कोई काम न लो। इस ग खंड को किसी प्रकार का अभ्यास नहीं मिलता। एक महीना वीतने के उपरान्त इन तीनों खडों को कोई हृदयस्थ करने का काम दो। तीनों खंडों की क्रिया की तुलना करने से यह पता लग सकता है कि किसने कैसा किया। अभ्यास से अगर लाभ होता है तो क और ख को ग से उत्तम करना चाहिए। अब क और ख में वही उत्तम करता है जिसका पहला अभ्यासवाला काम परीक्षावाले काम के समान हो। अगर कविता याद करने का काम दिया गया है तो क खंड सबसे अच्छा करेगा। अगर याद करने का काम बिलकुल नया है, इतना नया है कि क और ख में पहले अभ्यास करनेवाले काम की विचार-श्रेणियों में और नये काम की विचार-श्रेणियों में कुछ भी समानता नहीं है तो यह भी सम्भव है कि क और ख और ग सभी बराबर निकलें या ग, क और ख से अच्छा निकले। कुछ न कुछ विचार-श्रेणियों में समानता निकल ही आती है इसलिए ग की अपेक्षा क और ख कुछ अच्छा कर निकलते हैं। बालकों की महीने भर तक शारीरिक और मानसिक स्थिति भी ठीक होनी चाहिए। और कुछ बहुत-सी मनोवैज्ञानिक बातें ऐसी हैं जिनका प्रभाव पड़ सकता है।

हर एक मनोवैज्ञानिक क्रिया और परीक्षा में बहुत सी बातें बीच में आती हैं। जिनका ध्यान परीक्षक को रखना पड़ता है और जिनके ध्यान में रक्खे बिना प्रयोग वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक नहीं समझा जा सकता। मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ इतनी सरल नहीं हैं जितनी साधारणतः दिखाई पड़ती हैं। बहुत-सी कठिनाइयाँ प्रयोग करते समय बीच में आ जाती हैं जिनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता। उनके लिए परीक्षात्मक मनोविज्ञान की पुस्तकें देख लेना चाहिए।

रटाई—स्मृति के बारे में विचार करते समय रटाई का ध्यान सबके सामने आता है। रटाई से अधिकतर यही समझा जाता है कि कोई बात बिना समझ-बूझे बार बार कहकर कंठस्थ करना। बिना समझी बूझी हुई बात का मनुष्य कभी कोई प्रयोग नहीं कर सकता और इसलिए इस प्रकार की रटाई से कोई लाभ नहीं है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि इस प्रकार से जो लड़के अपना पाठ रट लेते हैं वे बीच में अटक जाते हैं और सोचकर बात को नहीं निकाल सकते। जहाँ गाड़ी अटकी वहीं मामला समाप्त हुआ। किसी बात को स्मरण करने के लिए विचार-सम्बन्ध बनाने की आवश्यकता है। अगर यह बन गये हैं तो इनके द्वारा याद की हुई बात का पुनरुद्भावन हो सकता है। रटाई के साथ अगर विचार सम्बन्ध नहीं है तो वह अवश्य वृथा है। परन्तु रटाई अर्थात् पुनरावृत्ति शिक्षा में आवश्यक है। एक बार ही पढ़ लेने से विचार-सम्बन्ध बिलकुल पुष्ट नहीं हो सकते इसलिए नई बात को बार बार पढ़ना पड़ता है और कई मार्गों-द्वारा (जैसा कि नये शब्द के सीखने में किया जाता है) उसे मन में पहुँचाना पड़ता है। शिक्षा-शास्त्र इस प्रकार की समझ-बूझ की रटाई के विरुद्ध कदापि नहीं है। तोता-रटाई से अवश्य कोई लाभ नहीं हो सकता।

—

१०—स्वभाव या आदत

X. Habits

अगर किसी व्यक्ति से पूछा जाय कि स्वभाव क्या है तो वह कुछ न कुछ बात उसके बारे में अवश्य बता सकेगा। साधारण रीति से स्वभाव का अर्थ सभी जानते हैं। अचार्यों ने अपन विचारों को स्पष्ट करने के लिए इसकी कितनी ही परिभाषाएँ दी हैं। परन्तु कोई एक परिभाषा सर्वाङ्गपूर्ण नहीं मालूम पड़ती। कुछ मतभेद भी है। परन्तु स्वभावों के बारे में कुछ विचार ऐसे हैं जिन्हें सभी सत्य मानते हैं। स्वभाव की शक्ति मनुष्य-मात्र में होती है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो यह कह सके कि उसकी कोई भी आदतें नहीं हैं चाहे वह ज्ञानविषयक आदतें हों चाहे शारीरिक। फिर यह बात भी है कि सब मनुष्यों की आदतें एक-सी नहीं होतीं और बराबर भी नहीं होतीं। यह बात सब मानते हैं कि आदतें वह शक्तियाँ हैं जो जन्म से नहीं मिलतीं बल्कि उनका उपार्जन जीवन में किया जाता है। कुछ व्यवहार की रीतियाँ प्राकृतिक होती हैं परन्तु यह आदतें नहीं हैं। मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ उसकी आदतें नहीं कहलातीं। मनुष्य अपने जीवन की परिस्थिति में रहने के कारण आदतें ग्रहण करता है।

आदत या स्वभाव की यह विशेषता है कि किसी प्रकार की आदत पड़ जाने के उपरान्त व्यवहार करने के लिए प्राणी को सोचना नहीं पड़ता। उत्तेजना होते ही तत्काल बँधा हुआ व्यवहार हो जाता है—मानो प्राणी यन्त्र हो। स्वाभाविक व्यवहार के सीखने में परिश्रम पड़ता है, ध्यान देना पड़ता है, सोच-विचार करना पड़ता है—कहीं अधिक कहीं कम। परन्तु सीख जाने के उपरान्त व्यवहार यन्त्रवत् हो जाता है। अगर हम अपने जीवन के साधारण कामों पर ध्यान दें तो हमें यह प्रतीत होगा कि बहुत से काम ऐसे होते हैं जिनमें श्रमपूर्वक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। खाने-पीने के काम, कपड़े पहिनने के काम, उठना-बैठना, मिलने-जुलने की रीतियाँ—इस प्रकार की बहुत बातें हममें 'स्वाभाविक' हैं। यह सब व्यवहार हर एक मनुष्य में एक-से नहीं

होते और सब सीखने से आते हैं। हो सकता है कि कुछ सीखने का काम ऐच्छिक रहा हो और कुछ अनुकरण से आया हो। ऐसा भी हो सकता है कि सीखने में प्रयासपूर्वक ध्यान देना पड़ा हो। बाईसिकिल चढ़ना सीखने में पहले-पहल कितनी कठिनता पड़ती है! ध्यानपूर्वक शरीर सँभालकर चढ़ना पड़ता है, फिर शरीर को ध्यान से साधना पड़ता है, इत्यादि। सीख लेने के उपरान्त वही कष्टसाध्य काम यन्त्रवत् हो जाता है।

मनोविज्ञानवेत्ताओं में जम्स (James) ने मनुष्य के जीवन में आदतों का महत्त्व सबसे अधिक माना है। उनका यह कथन है कि हम लोग अपनी आदतों के दास हैं। उनके अधिक होने के कारण हमारा चरित्र आदतों का समूह माना जाता है। जैसी आदतें मनुष्य की पड़ जाती हैं उसी के अनुसार उसका जीवन बन या बिगड़ जाता है। इसमें बहुत कुछ साधारण रूप से सत्य प्रतीत होता है। परन्तु इन विचारों की पूर्ण सत्यता तभी समझी जा सकती है जब कि हम इस बात को निश्चय कर लें कि किन किन व्यवहारों को आदत में समझना उचित है। एक प्रकार की परिभाषा के अनुसार, जिसका कि हम कुछ ऊपर वर्णन कर चुके हैं, आदत में हम उन्हीं क्रियाओं को सम्मिलित करेंगे जिन्हें कि हम बिना सोचे विचारे करते हैं और जो कि सदा एक समान ही होती हैं। मान लीजिए कि हमें एक लहजे से बोलने की आदत है। हम उस प्रकार बोलने के लिए कोई प्रयास नहीं करते और जब बोलने की क्रिया करते हैं तो हमारा बोलने का लहजा सदा एक समान ही रहता है। हमारी लिपि भी इसी प्रकार आदत के कारण सदा एक-सी रहती है। किसी दूसरी भाषा की लिपि की नकल करने को कहा जाय तो हमारी आदत हमें कोई सहायता नहीं देती। उस नई लिपि को लिखने के लिए हमें पूरा प्रयास करना पड़ता है। 'आदत' शब्द हमारी सभी प्रकार की क्रियाओं के लिए काम में लाया जाता है। हम लोग 'सफाई की आदत', 'आज्ञा पालन करने की आदत', 'स्पष्ट तर्क करने की आदत' इत्यादि वाक्यों का बराबर प्रयोग किया करते हैं।

अगर मौलिक दृष्टि से स्वभाव के ऊपर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि जब कोई प्रवृत्ति किसी विशेष उत्तेजना से बराबर जाग्रत की जाती है और जब उत्तेजना का रूप बँध-सा जाता है तब हमारी प्राकृतिक प्रवृत्तियों की सेवा

के लिए आदतें उपस्थित होती हैं। एक तरह से सोचिए तो बँधा हुआ व्यवहार हो जाने के कारण स्वभाव मनुष्य की बुद्धि के विरुद्ध है। मनुष्य का ज्ञान और उसकी वृद्धि उसको अपने व्यवहार को नई अवस्थाओं के अनुकूल बनाने को प्रोत्साहन देती है, परन्तु इसके विपरीत आदत उसके व्यवहार को स्थिर और सदा एक समान बनाये रखने को अग्रसर होती है। व्यवहार स्थिर बनाने के कारण आदतें मनुष्य के जीवन में उपयोगी हैं। जहाँ विचार की आवश्यकता नहीं वहाँ आदतें प्रयास को बिलकुल कम कर देती हैं, समय को बचाती हैं और विचार-शक्ति को उत्तम काम में लगाने के लिए बचाये रखती हैं। अगर हमें चलने-फिरने के लिए, खाने-पीने के लिए और सारे स्वाभाविक कामों के करने के लिए विचार-शक्ति को व्यय करना पड़े तो जीवन कठिन और दुखमय हो जायगा। आदतें हमको ठीक मार्ग पर बिना प्रयास चलने के लिए प्रस्तुत करती हैं और एक-सी ही बात के लिए बार बार सोचने में समय नष्ट करने से बचाती हैं।

हमारे सारे व्यवहार और क्रियाओं का संचालन आदतों-द्वारा हो सकता है। कुछ आदतें शारीरिक और कुछ ज्ञान-विषयक होती हैं। चलने-फिरने से लेकर जितने बड़े से बड़े शारीरिक काम हम समाज में करते हैं, और बोलने की रीति से लेकर गणित के प्रश्न शुद्ध और स्पष्ट रीति से करने तक सब काम जो बालक स्कूल में कर सकता है—ये सब कार्य आदत से सम्बन्ध रखते हैं। स्कूल का एक मुख्य उद्देश्य यह है कि बालक में उत्तम आदतों का संगठन करे जिससे उसका जीवन सदाचारी और समाज के लिए लाभदायक हो। अब हम आदतों के संगठन पर विचार करेंगे।

हम कह चुके हैं कि कोई भी प्रतिपत्ति, चाहे कितनी ही दुर्बल क्यों न हो, मन और मस्तिष्क पर कुछ न कुछ असर अवश्य छोड़ जाती है। वृथा कभी नहीं जाती। प्राणी को जितने अनुभव होते हैं सभी उस पर अपना थोड़ा-बहुत प्रभाव छोड़ ही जाते हैं। मस्तिष्क की बनावट कुछ कोमल होती है और ज्ञान का प्रवाह जिधर से होता है उधर मस्तिष्क में कोई न कोई चिह्न पड़ जाता है। जब उसी मार्ग से ज्ञान का प्रवाह बार बार होता है तो वह चिह्न गहरा और पक्का हो जाता है। और उसके उपरान्त ज्ञान के उसी ओर रहने की सम्भावना

अधिक रहती है। थोड़े समय में व्यवहार का मार्ग ऐसा बँध जाता है कि प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती। हर एक अनुभव अपना असर मन पर छोड़ जाता है चाह वह बुरा हो चाह अच्छा। अच्छे और बुरे व्यवहार दोनों की आदत पड़ती जाती है। यदि यह संसार आदर्श होता तो सम्भव था कि बालक के सामने केवल उत्तम ही अनुभव आते और धीरे धीरे उसमें अच्छी ही आदतें बनतीं। परन्तु संसार आदर्श नहीं है। उसमें बुरी भली सभी प्रकार की बातें हैं और बालक पर भले और बुरे अनुभव दोनों असर करते रहते हैं। उत्तम आदतों का सीखना आवश्यक है परन्तु बुरी आदत जो पड़ गई हो उसका छुड़ाना भी आवश्यक है। अध्यापक का काम केवल भली आदतें बनाना ही नहीं है बल्कि बुरी आदतों को तोड़ना भी है। आदत जितनी ही पुरानी हो जाती है उतनी ही उसके छोड़ने में कठिनाई होती है। मस्तिष्क पर जितना गहरा असर होता है आदत भी उतनी ही प्रबल होती है। परन्तु एक बात ध्यान रखने योग्य है। मस्तिष्क और मन की कोमलता बालकपन में अधिक होती है। ज्यों ज्यों आयु बढ़ती जाती है त्यों त्यों मन ठस होता जाता है। बालकपन में नये अनुभव का प्रभाव शीघ्र होता है और पुराने प्रभाव शीघ्र ही मिटाये भी जा सकते हैं। आयु बढ़ने के उपरान्त नई आदत को सीखना और पुरानी को छोड़ना (चाहे वह बुरी हो या भली) कठिन हो जाता है। बालकपन में मस्तिष्क की वृद्धि होती रहती है और नई आदतें सीखने में कठिनता नहीं पड़ती। जब वृद्धि रुक जाती है तो पुरानी आदत को छोड़ना और नई को सीखना बहुत कठिन हो जाता है। कहते हैं कि बीस वर्ष की आयु तक शारीरिक आदतें—खाने-पीने, कपड़े पहनने के ढंग, बोलने का लहजा, उच्चारण—सब स्थिर हो जाती हैं। इसी आयु तक या २५ वर्ष तक सामाजिक व्यवहार की आदतें भी पक्की हो जाती हैं। इसके उपरांत केवल कुछ मानसिक अथवा ज्ञान-विषयक आदतों में परिवर्तन हो सकता है। ३० या ३२ वर्ष की आयु तक जीविका-सम्बन्धी आदतें भी स्थिर हो जाती हैं और मनुष्य को अपनी सब आदतों के लिए, चाहे वह बुरी हो चाहे भली, एक पक्षपात होने लगता है। उसकी मानसिक स्थिति कुछ ऐसी हो जाती है कि वह इतना पक्षपाती हो जाता है कि दूसरी नई आदतों का सीखना प्रायः व्यर्थ या अनुचित समझने लगता है।

आदतों को बनाने के लिए चाहे वह शरीर-सम्बन्धी हों या ज्ञान-विषयक हों, जेम्स ने कुछ नियम बताये हैं जिन्हें अध्यापक के लिए जानना आवश्यक है—

(१) 'जितनी प्रबलता और दृढ़ता से हो सके अपने आदत बनानेवाले व्यवहार को आरम्भ करो। जिस ओर आदत बनने का मार्ग हो उससे विरुद्ध या किसी दूसरी ओर ध्यान न जाने पावे। जिस ओर जाना है उस ओर सारी मानसिक शक्ति लगा दो।' बहुत-से लोग नई आदत को डालने के लिए या पुरानी को तोड़ने के लिए प्रतिज्ञा कर लेते हैं, और अपनी प्रतिज्ञा का हाल अपने मित्रों को बता देते हैं, जिससे यदि वे प्रतिज्ञा के विरुद्ध काम करने लगें तो उन्हें लज्जा और ग्लानि हो। बहुत-से लोग दृढ़ प्रतिज्ञा करके तम्बाकू, शराब आदि बहुत-से दुर्व्यसन छोड़ सकते हैं। आरम्भ करने के लिए ठीक समय अवश्य चुनना चाहिए। जिस समय कोई अनुकूल उत्तेजना मिल जाती है उसी समय प्राणी प्रतिज्ञा कर बैठता है। प्रतिज्ञा करने के उपरान्त अगर अनुकूल अवसर सामने आते रहें (अनुकूल अवसर लाने की उस व्यक्ति को चेष्टा भी करनी चाहिए) तो आदत बन जायगी।

(२) 'जब तक कि नई आरम्भ की हुई आदत जड़ न पकड़ ले या पुरानी जड़ से उखड़ न जाय तब तक अभ्यास में कोई बाधा या व्यतिक्रम न होने दो।' किसी बात के बनने में समय अधिक लगता है, व्यवसाय की आवश्यकता पड़ती है परन्तु बिगड़ने में कुछ भी नहीं लगता। एक बार का बिगड़ना दस बार के बनने के बराबर होता है। बिगड़ने या विघ्न डालनेवाली बातों को बीच में आने ही न दो। केवल अनुकूल उत्तेजनायें और अनुकूल अनुभव ही सामने आवें। प्रतिकूल बातों को पास फटकने ही न देना चाहिए। बहुधा ऐसा होता है कि शराबी मनुष्य मदिरा पीना छोड़ने का निश्चय कर लेता है, पाँच सात दिन नहीं पीता। एक दिन अकस्मात् उसकी पुरानी कुसंगत की मित्र-मंडली एकत्रित हो जाती है और ७ दिन की न पीने की डाली हुई आदत एकदम नष्ट हो जाती है। जब तक कि स्वभाव स्थिर न हो जाय प्रतिकूल बातों को दूर रखना और चरित्र को दृढ़ रखना बहुत आवश्यक है।

(३) 'जिस आदत के डालने की या बुरी आदत के परित्याग करने की

प्रतिज्ञा की है उसके लिए जो व्यवहार या काय करने की आवश्यकता हो उसे ज्यों ही अवसर सामने आवे ग्रहण करो और काम करते चलो'। अगर अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहते हो तो ज्यों ही अनुकूल अन्तःक्षोभ की प्रेरणा हो त्यों ही काम करो। केवल विचार करने से कुछ नहीं हो सकता, कार्य करना आवश्यक है। विचार निश्चय करने में असली कठिनाई नहीं होती। असली कठिनाई अपनी प्रतिज्ञा को कार्य में परिवर्तित करने में होती है। बहुतेरे लोग प्रतिदिन मनसूबे बाँधा करते हैं। अच्छी अच्छी बातें करने के विचार करते हैं, प्रतिज्ञा भी कर डालते हैं। पर जब कार्य करने का समय आता है तब "आज नहीं कल से" यह कहकर टाल देते हैं। इस प्रकार के उद्योग से स्वभाव नहीं बन सकता। व्यवसाय की आवश्यकता पड़ती है। कार्य करने का व्यवसाय जिस व्यक्ति में नहीं है वह केवल मनमोदक लूट सकता है, सुचरित्र व्यक्ति नहीं बन सकता। बार बार कार्य करते करते फिर व्यवसाय की आवश्यकता नहीं पड़ती परन्तु आरम्भ में बार बार व्यवसाय का प्रयोग करना आवश्यक है।

(४) 'बालकों को आदत डालने के लिए केवल कोरा उपदेश न दो। प्रत्याहृत बातें बालकों को नहीं सुहातीं।' अध्यापक बालकों को प्रायः आचार-युक्त बातें सुनाया करते हैं। कभी बालक ध्यान देते हैं, कभी नहीं। बालकों का ध्यान साकार और अभिव्यक्त बातों से अधिक आकर्षित होता है। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि जब कोई अनुकूल अवसर उपस्थित हो उस समय चूके नहीं और बालकों को आचार-युक्त कार्य में लगायें। एकदम कार्य में लगा देना उपदेश देने की अपेक्षा अधिक लाभदायक होगा। दूसरी बात यह भी है कि केवल उपदेश देने से अध्यापक का काम नहीं चलता, उसे स्वयं उत्तम व्यवहार करके बालकों के सामने आदर्श रखना चाहिए। यदि वह कहे भी नहीं किन्तु उत्तम व्यवहार उनके सम्मुख उपस्थित किया करे तो बालक अनुकरण करेंगे और उनमें उस व्यवहार की आदत पड़ जायगी। स्पष्ट और बड़े बड़े अक्षर लिखने की आदत बालकों को डालने की रीति यही है कि अध्यापक स्वयं स्पष्ट और अच्छा लिखकर उनको बतावे। बालकों से व्यवहार कराना बहुत आवश्यक है। अध्यापक को केवल इस बात से सन्तोष न कर लेना चाहिए कि बालकों से एक प्रकार का व्यवहार करने को कह दिया गया है और उन लोगों ने जान लिया है

कि उन्हें उपयुक्त व्यवहार करना चाहिए। उसे उनसे असली व्यवहार कराना चाहिए। अनुकूल अवसर आने पर ही व्यवहार कराया जाय नहीं तो बालक रुचिपूर्वक उस व्यवहार को न करेंगे।

(५) 'थोड़ा थोड़ा अभ्यास प्रतिदिन करो जिसमें आदत के अनुसार कार्य करने की शक्ति जागृत रहे'। जिस शस्त्र से बराबर काम लिया जाता है वह तीव्र रहता है और जो रक्खा रहता है उसमें मोर्चा लग जाता है और काम पड़ने पर अपना कार्य नहीं कर सकता। अगर किसी आदत को स्थिर रूप से अपना सेवक बनाना हो तो उसके अनुसार प्रतिदिन थोड़ा कार्य करो। किसी आदत के पड़ जाने के उपरान्त या किसी व्यवहार के सीख लेने के पश्चात उसे इस विचार से बिलकुल बन्द न कर देना चाहिए कि जब उसका काम पड़ेगा तब उसका प्रयोग कर सकेंगे। अभ्यास बड़ा आवश्यक है। प्रयास-शक्ति को जाग्रत् रखना चाहिए नहीं तो काम पड़ने पर पछताना पड़ता है। शान्ति के समय में फौज को कवायद कराई जाती है और बहुत-सी उन बातों का, जिनका प्रयोग उन्हें लड़ाई में करना पड़ता है, अभ्यास कराया जाता है, और इस प्रकार उनकी प्रयास-शक्ति जाग्रत् रक्खी जाती है जिससे कि लड़ाई के समय वे कार्य में तत्पर हो सकें। छोटी छोटी बातों में उचित परिश्रम करने की बान बचपन से डलवानी चाहिए। मनुष्य अगर बालकपन में छोटी बातों में प्रयास का प्रयोग किये होता है तो युवक होकर वह बड़ी बातों में भी प्रयास कर सकता है और अपने को सदाचारी बना सकता है।

११—भावना-शक्ति

XI. Imagination

साधारण रीति से भावना-शक्ति के बारे में सभी लोग कुछ न कुछ जानते हैं परन्तु भावना की परिभाषा करना कठिन है। एक कारण यह भी है कि भावना का असली अर्थ समझने के लिए प्रतिमा कल्पना को जानना और दोनों में भेद जानने की आवश्यकता है। कुछ लोग भावना और प्रतिमा-कल्पना दोनों को एक ही समझते हैं। जब हमारी इन्द्रियों को ज्ञान न होते हुए हमारे मन के सामने एक प्रतिमा आती है तो हम यह कहते हैं कि हम प्रतिमा-कल्पना कर रहे हैं। प्रतिमा-कल्पना के लिए उसी समय साथ साथ ऐन्द्रिक ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। मान लीजिए कि हम कपड़े पहनकर स्कूल की ओर जा रहे हैं। रास्ते में हम अपने स्कूल के कमरे का ध्यान कर सकते हैं। दरजा हमारे सामने लगा हुआ है, लड़के बैठे हैं, हम श्यामपट पर कुछ लिख रहे हैं इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार के दृश्य की प्रतिमा बिना उस दृश्य के सम्मुख होते हुए भी हमारे मन के सामने आ जाती है। हम स्कूल के घंटे की ध्वनि को कल्पना-रूप से सुन भी लेते हैं। घंटा बजता नहीं है परन्तु उसकी ध्वनि की कल्पना हमारे मन में आ जाती है।

जैसा हम पहले स्मृति के अध्याय में कह आये हैं यह प्रतिमा दृष्टि की ही बातों के बारे में नहीं हो सकती बल्कि स्पर्श, श्रवण, घ्राण सभी के बारे में हो सकती है। इन प्रतिमाओं के साथ थोड़ा-थोड़ा-सा अन्तःक्षोभ भी हम अनुभव करते हैं—कभी अधिक, कभी कम और कभी बिलकुल नहीं। प्रतिमा यदि हर्ष-जनक होती है तो मन प्रसन्न होता है और अगर वह क्षोभ दिलाती है तो दुःख होता है। किसी पुरानी दुखदायी घटना की प्रतिमा सामने आते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं और दिल धड़कने लगता है। खाने की किसी मधुर वस्तु की प्रतिमा मुँह में पानी ले आती है।

भावना इसी प्रकार की, किन्तु प्रतिमा-कल्पना से थोड़ी पृथक्, मानसिक क्रिया है। भावना से अधिकतर यह समझा जाता है कि कुछ मानसिक कल्पना

की गई है। भावना प्रतिमा की तरह केवल पुराने अनुभव का नमूना ही नहीं है बल्कि मानसिक कल्पना से उसमें कुछ नई बातें भी रक्खी गई हैं। इससे यह अर्थ नहीं हुआ कि भावना और प्रतिमा-कल्पना की क्रियाओं में कोई जाति-भेद है। भावना होने के लिए प्रतिमाओं का होना आवश्यक है। परन्तु भावना में मन उन प्रतिमाओं को कुछ न कुछ नई रीति से मिश्रण करता है और एक ऐसी प्रतिमा या कल्पना सामने उपस्थित कर देता है जो कि पुरानी प्रतिमाओं से पृथक् होती है। सच पूछिए तो हम प्रतिमाओं के दो भेद मान सकते हैं, एक तो वह कि जिसमें पुरानी घटना या पुराने अनुभव का ज्यों का त्यों पुनरुद्भावन हो, और दूसरा वह कि जिसमें पुराने अनुभव के अङ्गों का इस प्रकार मिश्रण किया जाय और सजाया जाय कि जिससे एक नई प्रतिमा उत्पन्न हो जाय। पहले प्रकार की प्रतिमा-कल्पना को भावना कभी नहीं कहेंगे परन्तु दूसरे प्रकारवाली को अवश्य भावना समझेंगे।

भावना प्रतिमा-कल्पना से उच्च श्रेणी की मानसिक क्रिया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रतिमा-कल्पना निकम्मी है या ऐसी क्रिया है जिसका प्रयोग न कराना चाहिए। प्रतिमा-कल्पना अर्थात् पुराने अनुभव का ज्यों का त्यों प्रतिमा-रूप में पुनरुद्भावन तो ऐसी क्रिया है जिसका प्रयोग स्कूल के कामों में बालकों से बहुत-से विषयों में कराया जाता है। शब्दों के हिज्जे करने में, पुरानी तसवीर या देखे हुए नक्शे को खींचने में और इसी प्रकार की अन्य बातों में इसका प्रयोग करते हैं। परन्तु बालकों के मन को यहीं न रोक देना चाहिए। उनसे भावना कराना आवश्यक है। भावना को तो ज्ञानियों ने मन की उत्पादक शक्ति माना है। इस उत्पादन में पुरानी प्रतिमाएँ काम देती हैं, परन्तु जो ढाँचा तैयार होता है वह नया होता है। उत्पादन की श्रेणियाँ अवश्य हैं। बालक के लिए जानी हुई और अनुभव की हुई बातों से एक सरल कहानी बना डालना बड़े उद्योग की बात है, परन्तु बड़े और पढ़े-लिखे पुरुषों के लिए एक नये उपन्यास की रचना ही उत्पादन गिना जायगा। उत्पादन करने में कहीं पुरानी प्रतिमाओं का बहुत उलट-फेर किया जाता है और कहीं कम। परन्तु जहाँ नवीनता होगी वहीं उसे भावना कहना पड़ेगा।

भावना में पुराने अनुभवों का मिश्रण किसी उद्देश्य विशेष से होता है

किन्तु कभी कभी वह मिश्रण बिलकुल ऊटपटाँग भी हो सकता है। भावना शक्ति की क्रिया के लिए कोई बँधे हुए नियम नहीं हो सकते। मन जब भावना करने पर प्रस्तुत होता है तभी मनमानी बातों को जोड़ना आरम्भ कर देता है। यह कहना असत्य न होगा कि वह जहाँ से चाहता है वहीं से विचारों को लेकर एक नई बात उत्पन्न कर देता है। सबसे अधिक असम्भव बातों का मिलान स्वप्न में होता है। अनिद्र स्वप्न की अवस्था में अर्थात् जाग्रत् अवस्था में शेखचिल्ली की तरह हम लोग जमीन आसमान के कुलाबे खूब मिलाया करते हैं और मनमानी बातों का मिश्रण करने लगते हैं। अलादीन के दीपक की तरह हमारा मन भी सहज ही में महल तैयार कर सकता है। बहुत अनिद्र स्वप्न की आदत अच्छी नहीं होती और जो व्यक्ति बहुत ऐसा करता है वह जीवन में अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि उसे मन-मोदक लूटने की बहुत आदत पड़ जाती है। परन्तु जब भावना किसी उद्देश्य से कोई नई युक्ति सोच निकालने के लिए लगाई जाती है तब वह लाभदायक होती है। कवि, चित्रकार या इन्जीनियर की भावनाएँ लाभकारी हो सकती हैं। इनमें भी बहुत-से अनुभवों के अंशों को एकत्रित करके मिश्रण करते हैं परन्तु यह मिश्रण स्वप्न देखनेवाले के मिश्रण से कुछ भिन्न होता है। वे जिस भाव और प्रतिमा को अपना उद्देश्य पूरा होने के लिए आवश्यक समझते हैं वही उनकी भावना में आ सकता है। जो प्रतिमा या भाव उनके निर्दिष्ट उद्देश्य से मेल नहीं खाते, वे उनके चेतना-प्रवाह में नहीं घुस सकते।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि अध्यापक को बालकों की भावना-शक्ति को किस प्रकार बढ़ाना चाहिए जिससे उन्हें लाभ हो। परन्तु इससे पहले हम भावना का जाति-विभाग करना आवश्यक समझते हैं।

सरल पुनरुदभावन को हम भावना नहीं कहेंगे। जहाँ नई बात का उत्पादन होगा वहीं हम भावना शब्द का प्रयोग उचित समझते हैं। भावना को इस उत्पादन की दृष्टि से देखते हुए हमें दो जातियाँ एकदम स्पष्ट दिखाई देती हैं। हम कह चुके हैं कि उपन्यास लिखने में और जो कुछ घटनाएँ उसमें वर्णन की गई हैं उनकी कल्पना करने में लेखक को भावना-शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। जितना ही अधिक उत्पादन उसकी भावना करती है

उतना ही उत्तम उपन्यास तैयार हो जाता है। अब जैसे उपन्यास के लेखक को उस उपन्यास के तैयार करने में भावना का प्रयोग करना पड़ता है उसी प्रकार उस उपन्यास के पढ़नेवाले को भी भावना-शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। जो कुछ घटनाएँ वह पढ़ता जाता है, जो कुछ विचार वह ग्रहण करता जाता है उनके मिश्रण से उसके मन में नई प्रतिमाएँ उत्पन्न होती जाती हैं। परन्तु लेखक और पढ़नेवाले दोनों की भावना में एक प्रकार का जाति-भेद निकल सकता है। नई प्रतिमाएँ दोनों के मन के सम्मुख आती हैं। परन्तु लेखक उन्हें भावना-शक्ति से उत्पन्न करता है और पढ़नेवाला उन्हें उस शक्ति से ग्रहण करता है और लेखक की प्रतिमाओं का अनुकरण करता है। इसलिए निर्मित-कल्पना या भावना के दो रूप हुए—एक तो उत्पादक और दूसरा अनुकरणीय।

अब यदि हम निर्मित-कल्पना को दूसरी दृष्टि से देखें तो हमें दो पृथक् जातियाँ और मिलेंगी। और यह जाति-भेद ऐसा है जो शिक्षा-शास्त्र पर बड़ा प्रभाव डालता है। वह निर्मित-कल्पना, जिसके बल से इंजीनियर एक भारी पुल का रूप खींचता है या जिससे विज्ञानवेत्ता कोई वैज्ञानिक कल्पना करता है, या जिससे गणितज्ञ किसी गणित के मूल नियम को तैयार करता है; उस निर्मित-कल्पना से जिसका कि एक लेखक उपन्यास के गढ़ने में प्रयोग करता है, या कवि कविता की रचना में काम में लाता है, या चित्रकार चित्र का खाका बनाने में लगाता है, बिलकुल पृथक् है। इंजीनियर तथा विज्ञानवेत्ता की भावना को हम कृत्यसाधक कहेंगे और उपन्यास-रचयिता की भावना को रस-सम्बन्धी या कलासम्बन्धी कहना ठीक होगा। कृत्यसाधक कल्पना और कला-सम्बन्धी कल्पना में स्पष्ट भेद है।

कृत्यसाधक कल्पना करने में मन तनिक भी स्वतन्त्र नहीं होता और इसमें उसे मनमानी कल्पना करने की गुञ्जाइश भी नहीं होती। मन के ऊपर कल्पना करने के लिए कुछ संयम और नियम रक्खे जाते हैं। इन नियमों का उसे पालन करना पड़ता है। यदि नियमों का पालन न किया गया तो बिलकुल ऊटपटाँग बात (कल्पना) तैयार हो जाती है। यह नियम (जिसका कि मन को पालन करना पड़ता है) विषयीगत नहीं होते—वे विषयात्मक होते हैं, और जो आभ्यन्तरिक बातें होती हैं उनसे ये उत्पन्न होते हैं। मान लीजिए कि इन्जीनियर को

पुल की कल्पना करनी है। तो मन को इस निर्मित-कल्पना के करने के लिए यह अधिकार नहीं है कि वह मनमानी कल्पना करे। उसे यह अधिकार नहीं है कि वह मिट्टी के पुल की प्रतिमा को अपनी आँखों के सामने आने दे। पुल केवल लोहे और पत्थर इत्यादि से बन सकता है,—इस बात को उसे ध्यान में रखना पड़ेगा। फिर यह बात भी है कि उसके बनाने के प्रयोगों में वह मनमाने ऊट-पटाँग प्रयोग नहीं कर सकता है। उसे विज्ञान के उन नियमों का, जो ऐसे कार्य में काम में लाये जाने चाहिए, पालन करना पड़ेगा। वह एक पतली लकड़ी की बल्ली पर लोहे के सहस्रों मन बोझ को मनमानी तरह से नहीं रख सकता। नियम, जिनका कि उसे पालन करना पड़ता है, आभ्यंतरिक स्थितियों पर निर्भर हैं और उन नियमों को प्रस्तुत विषय के अनुसार ही निश्चित किया गया है।

कला-सम्बन्धी कल्पना करने में मन को अधिक स्वतन्त्रता होती है। यह कहना तो उचित न होगा कि उसे उतनी स्वतन्त्रता होती है जितनी अनिद्र स्वप्न देखने में, परन्तु यह अवश्य है कि उसकी दौड़ में अधिक रुकावटें नहीं होतीं। मनमोदक लूटने की संभावना अधिक होती है। यह कहना तो असत्य होगा कि उपन्यास-रचयिता, कवि वा चित्रकार को किन्हीं भी नियमों का पालन नहीं करना पड़ता परन्तु यह अवश्य है कि न तो यह नियम उस जाति के होते हैं जो इंजीनियर को मानने पड़ते हैं, न उतने अधिक ही होते हैं। कृत्यसाधक कल्पना करने में मन को जिन नियमों का पालन करना पड़ता है वे विषयात्मक नहीं होते, वे विषयीगत होते हैं। यह नियम लेखक या रचयिता के मन से उत्पन्न हुए होते हैं और वह स्वयं अपनी इच्छा से अपने विचारों को उनके अधीन कर लेता है। अगर वह असंभव घटना को अपने विषयीगत नियमों में बैठा सके तो मिट्टी के पुल पर रेल चला सकता है।

कृत्यसाधक और कला-सम्बन्धी कल्पनाओं में और एक भेद थोड़ा थोड़ा प्रतीत होता है। यह अनुभव की हुई बात है कि जब मन को मनमोदक लूटने को मिलते हैं तो उसे बड़ी प्रसन्नता होती है। कल्पना करने में मन के अंतःक्षोभों को भी शान्ति मिलती है। दोनों कल्पनाओं में संतोष, मोह और प्रसाद भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। कृत्यसाधक कल्पना में प्रसाद अधिकतर क्रिया की सफलता के सम्पूर्ण हो जाने पर मिलता है। ज्यों ज्यों क्रिया में सफलता प्राप्त

होती जाती हैं त्यों त्यों मन-मोद बढ़ता जाता है, परन्तु सम्पूर्ण मुदित मन होना क्रिया की सफलता के समाप्त होने पर निर्भर है। कला-सम्बन्धी कल्पना में विषयी को सफलता से क्रिया के समाप्त होने की उतनी चिन्ता नहीं होती जितनी कि कृत्यसाधक कल्पना में होती है। इसलिए क्रिया जारी रहते हुए भी बहुत मोद मिलता रहता है। समाप्त होने पर भी मन-मोद होता है परन्तु उस प्रकार का नहीं जो कि कृत्यसाधक में होता है। इसका मुख्य कारण यही है कि एक में विषयात्मक नियमों का बन्धन होता है और दूसरे में नहीं।

अब थोड़ा विचार करने से यह और ज्ञात होगा कि दोनों कृत्यसाधक और कला-सम्बन्धी कल्पनाओं के और दो जाति-विभाग हो सकते हैं। कृत्यसाधक कल्पना क्रियात्मक और सूत्रात्मक दोनों हो सकती हैं। जब कि मन का उद्देश्य किसी बात को समझना होता है तो वह सूत्रात्मक कल्पना का प्रयोग करता है और जब क्रिया करना उसका लक्ष्य होता है तब क्रियात्मक कल्पना को काम में लाना पड़ता है। जब हम विज्ञान के मूल नियम निकालने की चेष्टा करते हैं तो सूत्रात्मक कृत्यसाधक कल्पना काम में लाते हैं। और जब हमें किसी वस्तु का निर्माण करना पड़ता है, जैसे इंजन या पुल बनाना, तब हम क्रियात्मक कृत्यसाधक कल्पना का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार कला-सम्बन्धी कल्पना के भी यही दो जाति-विभाग हो सकते हैं। एक औत्प्रेक्षिक और दूसरी कलात्मक। औत्प्रेक्षिक कल्पना का प्रयोग केवल अनिद्र स्वप्न देखने में और हवाबंदी में होता है। जब मन अपने मनमोदक लूटता है और खयाली पुलाव पकाता रहता है तब वह औत्प्रेक्षिक कल्पना को बिना लगाम के दौड़ने देता है। परन्तु जब नियमानुसार कल्पना अपना काम करती है तब वह स्वप्न गढ़ने की जगह उद्देश्यों को सोच निकालता है। उस कल्पना को जो उद्देश्यों के उत्पन्न करने में सहायता देती है हम रस-सम्बन्धी या कलात्मक कहेंगे। साहित्य-ग्रंथ-रचयिता इसी जाति की कल्पना का प्रयोग करके एक आदर्श उपस्थित कर सकता है।

जीवन के लिए आदर्श और उद्देश्य बहुत आवश्यक हैं। इसलिए धीरे धीरे बालकों को औत्प्रेक्षिक कल्पना करने में समय नष्ट करने से हटाकर कलात्मक कल्पना करने की ओर झुकाना चाहिए। जीवन में सफलता के लिए कलात्मक और कृत्यसाधक कल्पना ही लाभदायक हो सकती हैं। कुछ विद्वान् कहते हैं कि

कृत्यसाधक कल्पना ही बालकों में बढ़ानी चाहिए। जीवन में बालकों को क्रियात्मक ही बनना है। कला-सम्बन्धी कल्पना की ऐसी आवश्यकता नहीं है। वे सब बातें जिनसे बालकों का मन स्वच्छंदतापूर्वक ऊटपटाँग दौड़ लगाने लगता है रोकनी चाहिए। परियों की कहानियाँ, राजा-रानियों के किस्से इत्यादि बालकों का बड़ा मनोरञ्जन करते हैं। डा० मौंटसोरी (Montessori) का यह कथन है कि बच्चों को इन झूठे किस्से-कहानियों को न पढ़ने देना चाहिए क्योंकि इनसे कृत्यसाधक कल्पना को तो किसी प्रकार का लाभ होता नहीं किन्तु बालक में औत्प्रेक्षिक कल्पना बढ़ जाती है। और जिस बालक में इस प्रकार की कल्पना अधिक हो जाती है वह संसार के असली जीवन से बहुत दूर पहुँच जाता है। साधारण रीति से यह कथन ठीक जान पड़ता है। पर इस तर्क में बहुत कुछ त्रुटि भी है। जीवन के लिए क्रियात्मक होना आवश्यक है परन्तु वह जीवन जो उद्देश्य और आदर्श से वंचित है पूर्ण जीवन नहीं कहा जा सकता। आदर्शों का होना परमावश्यक है। कला-सम्बन्धी और रस-सम्बन्धी कल्पना ही के द्वारा आदर्श उत्पन्न हो सकते हैं। इस कल्पना को बढ़ाने के लिए बालक की रुचि के अनुसार ही चलना पड़ता है। इसलिए आरम्भ में परियों की कहानियाँ इत्यादि का, जिनमें बालकों की बहुत रुचि होती है, उपयोग करना उचित है। परन्तु केवल इन्हीं का उपयोग नहीं किया जाता। एक ओर यह और दूसरी ओर साथ ही साथ वे प्रयोग भी काम में लाये जाते हैं जिनसे कृत्यसाधक कल्पना की वृद्धि होती है। बालक में इन दोनों जाति की कल्पनाओं का उचित सम्मिश्रण करने से ही उसे आदर्श और क्रियात्मक जीवन के लिए तैयार किया जा सकता है।

हम देख चुके हैं कि भावना में उद्भावन आवश्यक है। किन्तु भावना पुराने अनुभवों का केवल पुनरुद्भावन ही नहीं है। भावना चाहे जो रूप धारण करे उसमें प्रतिमा-भावना बहुत काम आती है। प्रतिमा और उसके अंशों का मिश्रण ही तो भावना में होता है। इसलिए भावना-शक्ति की वृद्धि के लिए प्रतिमाओं की स्पष्टता और वृद्धि दोनों आवश्यक हैं। प्रतिमाएं मूर्तिमान् भी होती हैं और साङ्केतिक अथवा शाब्दिक भी। बालकों के मन में मूर्तिमान् प्रतिमा बहुत शुद्ध और स्पष्ट बनती है। ज्यों ज्यों वह बड़ा होता जाता है त्यों त्यों

मूर्तिमान्-प्रतिमाएँ कम होती जाती हैं और वह शाब्दिक अथवा साङ्केतिक प्रतिमाएँ अधिक बनाने लगता है। परन्तु इस क्रिया में जितनी जल्दी की जाती हैं उतनी ही अशुद्ध प्रतिमा बनने का भय रहता है। पहले मूर्तिमान् प्रतिमा खूब स्पष्ट और शुद्ध बन जानी चाहिए और फिर धीरे धीरे ज्यों ज्यों शब्द उसकी समझ में आने लगें और ज्यों-ज्यों वह भाषा का ठीक ठीक प्रयोग लगे त्यों-त्यों शाब्दिक प्रतिमाएँ बनने देना चाहिए। भावना के अभ्यास में यह परमावश्यक है कि बालक में अशुद्ध भावना न स्थापित हो। इसी लिए हर पाठ में और विशेष कर छोटे बालकों के सामने प्रत्यक्ष वस्तु, नमूने, चित्र आदि लाये जावें। अध्यापक उचित प्रश्नों-द्वारा यह जाँच कर लिया करे कि बालक के मन में शुद्ध भावना उपस्थित होती जा रही है या नहीं।

प्रयोग द्वारा इस बात को प्रमाणित किया गया है कि स्कूल के बहुत-से विषयों में भावना का उचित प्रयोग किया जा सकता है। गणित या विज्ञान के प्रश्न हल करने में भावना-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। भूगोल में सौर जगत्, पृथ्वी, पृथ्वी पर के देश और वहाँ लोग किस प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं इत्यादि ऐसी बातें हैं जिनके ठीक ठीक जानने के लिए भावना-शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। इतिहास और साहित्य में रटने से काम नहीं चलता। लेखक के विचारों को ग्रहण करने के लिए लेखक के मन की प्रतिमाओं का अनुकरण करना पड़ता है। ड्राइंग, चित्रकारी और प्रकृति-निरीक्षण में तो प्रतिमा-कल्पना बालक को पद-पद पर करनी पड़ती है।

१२—थकान

XII. Fatigue

ध्यान के बारे में विचार प्रकट करते समय हम यह कह चुके हैं कि ध्यान का मुख्य कारण रुचि है। यदि बालक की रुचि किसी कार्य की ओर आकर्षित कर ली जाय तो वह उस कार्य में ध्यान देने लगेगा। जब तक बालक की रुचि उसमें लगी रहेगी वह ध्यानपूर्वक काम को करता रहेगा। बालक की रुचि किस प्रकार काम में लगानी चाहिए इस पर भी हम बार बार विचार कर चुके हैं। जिन नियमों का हमने उल्लेख किया है अगर वह शिक्षा-शास्त्र में प्रयोग में लाये जायें तो बालक की रुचि स्कूल के सब कार्यों में लगाई जा सकती है। अब मान लीजिए कि कोई अध्यापक हमारे इन सब बताये हुए नियमों का पालन करते हुए अपना कार्य करता है और बालकों की रुचि का प्रयोग कराकर उनको ध्यानपूर्वक काम में लगाता है। इस अध्यापक को भी, इन नियमों का पालन करते हुए भी, कभी कभी ऐसे अवसर मिलेंगे जब उसे मालूम होगा कि बालक ध्यान नहीं दे रहे हैं। यदि हम यह भी मान लें कि बालक अध्यापक के पूरे शासन में हैं और ध्यान देने का प्रयत्न भी करते हैं फिर भी यह देखा जायगा कि कभी कभी वे ध्यान नहीं दे सकते। यह स्थिति जिसको हम सब कभी कभी अनुभव करते हैं केवल एक कारण से उत्पन्न होती है। वह कारण थकान है।

जैसे कि शारीरिक काम से मनुष्य थकावट प्रतीत करता है, उसी प्रकार मानसिक कार्य से भी। काम, चाहे मानसिक हो चाहे शारीरिक, थकान अवश्य उत्पन्न करेगा। थकावट आते ही शारीरिक और मानसिक शक्तियों में न्यूनता आ जाती है। जो सोचने और याद करने का काम सुगमता से हो सकता है उसमें बहुत कठिनाई प्रतीत होने लगती है। जैसे दौड़कर थक जाने के बाद पैर काम नहीं देते उसी प्रकार मन अपना कर्तव्य नहीं कर सकता। 'शरीर-विज्ञान' की दृष्टि से अगर इस मामले को देखें तो हमें यह ज्ञात होगा कि मानसिक परिश्रम करते समय मस्तिष्क में कुछ परिवर्तन होता रहता है। अगर शारीरिक परिश्रम किया जाता है, तो शरीर के उस भाग का जिससे परिश्रम किया जाता है, बहुत कुछ अंश व्यय हो जाता है। मान लीजिए

कि कोई दौड़ लगाता है, तो मुख्य रीति से उसके हृदय (जहाँ से कि रुधिर शरीर को भेजा जाता है) और उसके पैर की पेशी (जिनको अधिक परिश्रम करना पड़ता है) विशेष व्यय करते हैं। शरीर-विज्ञान के अनुसार हम यह कहेंगे कि उन अङ्गों से 'ओषजन' (Oxygen) निकलती जाती है। उन अङ्गों से तो वह अवश्य नष्ट होती है पर वह कार्य के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस नष्ट हुए ओषजन की पूर्ति होनी आवश्यक है। रुधिर फेफड़ों से ओषजन ले-लेकर शरीर में दौड़ता है और जहाँ जहाँ ओषजन की न्यूनता होती है वहाँ वहाँ उसकी पूर्ति करता है। इस ओषजन की न्यूनता पूरी करने के लिए रुधिर की धारा को जल्दी जल्दी दौड़ना पड़ता है। दिल इसी कारण जोर से धड़कने लगता है। फेफड़ों में जल्दी जल्दी ओषजन पहुँचने की आवश्यकता होती है, इसलिए जल्दी जल्दी साँस लेनी पड़ती है। जो दूषित वस्तुएँ शरीर में उत्पन्न हो जाती हैं वह कुछ तो रुधिर-द्वारा फेफड़ों में लाकर बाहर निकलती हुई श्वास-द्वारा फेंक दी जाती हैं और कुछ प्रस्वेद के साथ निकल जाती हैं। जब परिश्रम इतना ही किया जाता है कि कुल दूषित वस्तुएँ साधारण श्वास-द्वारा बाहर निकल जाती हैं और साधारण रक्त-परिचालन के द्वारा आवश्यक ओषजन भीतर पहुँच जाता है तब तक तो कोई हानि नहीं होती; परन्तु यदि यह कुल दूषित वस्तुएँ जो रक्त-प्रवाह में मिल जाती हैं शीघ्र बाहर नहीं फेंक दी जातीं तो वे धीरे धीरे शरीर के दूसरे अङ्गों में, जिनसे काम नहीं लिया जाता, पहुँच जाती हैं, और उनके साधारण कार्य में बाधा डालने लगती हैं। अधिक वेग से काम करने से ऐसी दशा उत्पन्न हो जाती है और दूषित वस्तुओं का विष धीरे धीरे सारे शरीर में प्रवेश कर जाता है। ऐसी अवस्था होने पर शरीर में शक्ति-हीनता और शिथिलता आ जाती है। जब हम मनुष्य को इस अवस्था में देखते हैं तो कहते हैं कि वह थक गया है।

मानसिक और शारीरिक थकावट में शरीर-विज्ञान की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। शारीरिक थकावट में अधिकतर परिवर्तन पेशियों में होता है और दूषित वस्तुएँ उनमें एकत्रित हो जाती हैं। मानसिक थकावट में मस्तिष्क में परिवर्तन होता है और दूषित वस्तुएँ उसमें एकत्रित हो जाती

हैं। जैसे पेशियों के तन्तुओं में क्षय होता है और विष एकत्रित हो जाता है उसी प्रकार मस्तिष्क के तन्तुओं में भी क्षय होकर उसमें विष एकत्रित हो जाता है। इस बात का पता प्रयोगों-द्वारा लगाया गया है। थकावट के कारणों में से मुख्य कारण विष का किसी अंग में एकत्रित हो जाना है। अगर किसी पशु की एक थकी हुई पेशी ली जाय और उसको हलके नमक के पानी से धो दिया जाय तो विष दूर हो जाता है और उस पेशी में काम करने की शक्ति फिर आ जाती है। थोड़ा काम करने के उपरांत फिर वह थक जाता है परन्तु नमक के पानी से धो देने से फिर काम करने लगता है। यह क्रिया कई बार की जा सकती है। अन्त में तो फिर ऐसा समय आ ही जाता है जब वह काम बिलकुल नहीं कर सकती क्योंकि तन्तुओं का क्षय इतना अधिक हो जाता है कि बिना उनकी वृद्धि हुए उसका अधिक काम करना असंभव हो जाता है।

एक बात और देखी गई है कि वात-संस्थान के कोष्ठ शरीर के दूसरे संस्थानों के कोष्ठों से कहीं अधिक संचेत्य हैं। विष का असर उनके ऊपर तुरन्त ही हो जाता है। ज्यों ही रुधिर के प्रवाह के साथ शरीर के किसी भी भाग में पैदा हुआ विष वात-संस्थान के कोष्ठों में पहुँच जाता है त्यों ही वह विष उस पर असर करने लगता है। वात-संस्थान में भी, विशेष कर मस्तिष्क के कोष्ठ पर, विष का असर सबसे अधिक पड़ता है। परिणाम यह होता है कि शरीर में चाहे कहीं भी विष पैदा हो, उसका असर मस्तिष्क पर पहुँच जाता है। शारीरिक काम करने और थकावट पैदा होने से भी मस्तिष्क पर असर पहुँचता है। किसी प्रकार की थकावट पैदा होने से मनुष्य के व्यवसाय और बुद्धि पर असर पड़ता है और वह मानसिक कार्य में ध्यान नहीं दे सकता। शारीरिक और मानसिक थकावट दोनों एक दूसरे से शरीर-विज्ञान की दृष्टि से अलग नहीं रक्खी जा सकतीं और एक का असर दूसरे पर पड़ता है।

कदाचित् ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसने कभी शारीरिक और मानसिक कार्य करने में थकावट न अनुभव की हो। सच पूछिए तो थकावट व्यवसाय के साथ काम करने का एक लक्षण-मात्र है। ध्यान देते देते थकावट पैदा हो ही जाती है, परंतु यदि शरीर का स्वास्थ्य अच्छा हो तो थोड़ी देर विश्राम करने से थकावट दूर हो जाती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि थकावट

का स्वागत करना चाहिए या उसकी परवाह न करनी चाहिए। थकावट के कारण काम करने की शक्ति में बड़ा अन्तर पड़ जाता है और थकी हुई दशा में कार्य करने से समय भी बहुत नष्ट होता है। थकी हुई दशा में काम करने से शरीर के अङ्गों का क्षय अधिक होता है। थकी हुई दशा में मस्तिष्क बहुत परिश्रम करने पर भी थोड़ा-सा ही काम कर पाता है। दरजे में काम करते करते कभी कभी बालकों की ऐसी ही दशा होने लगती है। ऐसी अवस्था में बालकों को डाँटने या दण्ड देने से कुछ लाभ नहीं होता।

इस अवसर पर दूसरे उपायों का अवलम्ब ग्रहण करना चाहिए। अध्यापक के लिए इस बात का जानना भी आवश्यक है कि बालकों में थकावट के क्या चिह्न हैं। जब बालक काम नहीं कर पाते तो इस बात का पता लगाने की आवश्यकता होती है कि उसका कारण क्या है। या तो पाठ इतना कठिन है कि बालक काम नहीं कर सकते, या पाठ-प्रणाली बालकों के लिए रोचक नहीं है, या बालक जानकर शरारत कर रहे हैं और पढ़ना नहीं चाहते, या वह मानसिक थकावट अनुभव करते हैं और उसके कारण विवश हैं। थकावट के कुछ चिह्न ऐसे हैं जिनसे आसानी से पता चल सकता है कि बालक थके हैं या नहीं। बालकों की थकावट का पता लगाने के लिए बहुत-से प्रयोग भी वर्तमान काल में किये गये हैं जिनसे थकावट का पता लग सकता है। अब हम थकावट के चिह्नों का वर्णन करेंगे।

विषयी की दृष्टि से अगर देखा जाय तो थकावट आरम्भ होने से जो काम वह करता होता है उसमें कुछ अनिच्छा होने लगती है। उसकी मानसिक दशा स्थिर नहीं रहती है। मन जो काम कर रहा होता है उसे छोड़कर दूसरे की ओर दौड़ता है और कार्य-परिवर्तन की लालसा करने लगता है। थकावट ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है अनिच्छा भी त्यों त्यों बढ़ती जाती है। अन्त में वह थककर कार्य में परिवर्तन ही नहीं बल्कि विश्राम और निद्रा की इच्छा करने लगता है। ये सब बातें विषयीगत हैं और थकावट की दशा में हम सब इनका अनुभव कर सकते हैं। बालक भी थकावट होने से इन्हीं बातों को अनुभव करते हैं। परन्तु बालक कब यह अनुभव करते हैं इस बात का पता कैसे चले, क्योंकि यह अवस्था तो विषयीगत है और भीतर होती है? बालकों से पूछने पर यह मालूम किया जा

सकता है कि यह अवस्था उपस्थित हुई या नहीं। इसमें दो कठिनाइयाँ हैं—एक तो यह कि बालक के भीतर की सच्ची दशा का पता लगना कठिन है। बालक बहाना भी बना सकते हैं। दूसरा यह कि यदि वे सच भी बतला दें तो अध्यापक को यह किस प्रकार निश्चय हो कि वह अवस्था थकावट ही के कारण है और किसी और कारण से नहीं है। जो काम किया जा रहा हो उसमें अरुचि का कारण अनिच्छा भी हो सकती है। अरुचि से अनिच्छा होती है, और थकावट से भी। और धोखे से अरुचि को थकावट समझा जा सकता है। अध्यापक अरुचि की समस्या को दूसरी रीति से हल कर सकता है। जहाँ तक हो सके प्रयोगों-द्वारा पाठ में बालकों को रुचि दिलाने का प्रयत्न करें; परन्तु जैसा हम कह आये हैं, कभी-कभी ऐसे अवसर अवश्य सामने आवेंगे जब व्यवसाय लगाकर ही बालक ध्यान दे सकता है और उसे ऐसा करना पड़ता है। अब अरुचि है या थकावट इसका भेद उसको कुछ बाह्य चिह्नों से लग सकता है। वे चिह्न ऐसे हैं जो छिप नहीं सकते और उन पर ध्यान देने से धोखा नहीं हो सकता। यह चिह्न बालकों के शरीर की दशा तथा उनके मानसिक काम से सम्बन्ध रखते हैं। कुछ तो शारीरिक अवस्थाएं ऐसी हैं कि जिनके उपस्थित होने से थकावट का पता लगता है और कुछ पता बालकों के काम की उत्तमता और परिमाण से लग सकता है। हम पहले शारीरिक अवस्थाओं का वर्णन करेंगे।

जब थकावट आरम्भ होने लगती है तब वात-शक्ति का प्रवाह शरीर की पेशियों की ओर, धीमा पड़ जाता है। इस कारण शरीर की स्फूर्ति कम होकर उसमें एक प्रकार की शिथिलता उत्पन्न हो जाती है। बैठने, उठने, खड़े होने का ढङ्ग ढीला हो जाता है। चौकन्नी अवस्था में शरीर जैसे ठीक सधा रहता है वैसा नहीं रहता। सिर ठीक ऊँचा नहीं रहता, वह झुकने और लटकने लगता है। जब बालक खड़ा होता है तब रीढ़ सधी नहीं रहती। बालक शरीर को मोड़ने लगता है और अँगड़ाई लेने लगता है। आँखें स्थिर नहीं रहतीं, चेहरे का तेज कम हो जाता है और उस पर कुछ पीलापन झलकने लगता है। भुजाएँ अगर फैलाई जायें तो सीधी सीधी नहीं फैलतीं, प्रायः बाईं भुजा नीचे झुकी रहती है। हाथ अगर इस तरह फैलाये जायें कि हथेली नीचे की ओर रहे तो प्रायः देखा जाता है कि अँगूठा अच्छी तरह नहीं फैलता और नीचे की ओर झुका रहता है।

यदि थकावट अधिक होती है तो आँखें मिचने लगती हैं क्योंकि वे निद्रा का आवाहन करना चाहती हैं।

अब हम काम के बारे में विचार करेंगे क्योंकि अध्यापक बालकों की कापियों में उनके काम को ध्यान से देखकर और उनसे प्रश्न करके यह पता लगा सकता है कि उनमें थकावट आ गई है या नहीं। थकावट के कारण काम की उत्तमता और परिमाण दोनों में कमी हो जाती है। जितना काम एक व्यक्ति साधारण दशा में कर सकता है उतना थकी हुई दशा में नहीं। इस बारे में बहुत-सी क्रियाएँ की गई हैं जिनसे पता लगता है कि थकावट की दशा में काम के परिमाण में कितना अन्तर पड़ता है। काम के परिमाण के बारे में जो पंक्ति-चित्र (graphs) खींचे गये हैं उनसे यह पता लगता है कि काम का परिमाण स्थिर नहीं रहता। कभी कम, कभी अधिक, फिर कम इत्यादि ऐसा होने लगता है। काम कम होता देख व्यथित व्यवसाय को काम में लाता है और झटके से काम की मात्रा को बढ़ाने लगता है परन्तु फिर थकावट के कारण काम कम हो जाता है। काम में कमी होने के अतिरिक्त काम में बहुत अशुद्धियाँ होने लगती हैं और वे अशुद्धियाँ एसी होती हैं जो उस दर्जे में पढ़नेवाला बालक साधारण अवस्था में नहीं करता। कुछ का कुछ कहीं लिख जाना, जानी हुई, दुहराई हुई बात जो पहले ठीक बता चुका हो उसमें अशुद्धि करना, इत्यादि अशुद्धियाँ थकावट के कारण होती हैं। इस बात को ठीक ठीक जानने के लिए प्रयोग किये गये हैं। बालकों को गणित के प्रश्न करने को दिये जाते हैं, इमला लिखाया जाता है और उनसे यह पता लगाया जाता है कि बालक थकी हुई दशा में बेथकी हुई दशा की अपेक्षा कितनी अधिक अशुद्धियाँ करते हैं। अगर थकावट नहीं होती और काम रुचिपूर्वक न होने के कारण बालक बेचैन होने लगते हैं तो अपनी रुचि के अनुसार काम पाने पर वे अशुद्धियाँ नहीं करते। मान लीजिए कि गणित का एक ही काम बालक को प्रातःकाल दिया गया है और फिर जिस समय स्कूल का कार्य समाप्त हो रहा हो उस समय दिया गया है। दूसरी बार सवाल करने में बहुत अशुद्धियाँ होंगी और वह कम सवाल कर सकेगा क्योंकि बालक थक गया है। परन्तु अगर स्कूल समाप्त होते समय वह ऐसा काम कर रहा हो जिसमें उसे रुचि न हो और गणित में उसे रुचि हो तो उस समय यदि

उसे सवाल दिये जायँगे तो सम्भव है कि वह उनमें से उतने ही ठीक कर सके जितने उसने प्रातःकाल किये थे।

अब हम थकावट को दूर करने के वारे में विचार करेंगे। कुछ वातें तो शिक्षा-शास्त्र-सम्वन्धी हैं और कुछ ऐसी हैं जो स्वास्थ्य-रक्षा से सम्वन्ध रखती हैं। जिस वालक के घर का रहन-सहन अच्छा है, जिसे घर पर शरीर की वृद्धि के लिए पुष्टिकारक भोजन मिलता है, जिसको स्वास्थ्यसूचक गहरी निद्रा सोने को मिलती है, जो घर पर स्वच्छ जलवायु का प्रयोग करता है उसे स्कूल में काम करने में अवश्य कम थकावट होगी। किन्तु ये वातें अध्यापक के हाथ में नहीं हैं। जब वालक स्कूल में आ जाता है तब वह उसके लिए सब कुछ कर सकता है। स्कूल के कमरे में वायु के आगमन का प्रवन्ध ठीक होना चाहिए। कमरे की वायु, रोशनी, गरमी, सरदी, इत्यादि का असर वालकों के ऊपर वहुत पड़ता है। अगर इन वातों का ठीक प्रबन्ध नहीं है तो वालक जल्दी थक जायँगे। इस वात को भी निश्चय करने के लिए प्रयोग किये गये हैं। कमरे में गरमी वढ़ाकर, वायु कम करके, कमरे में सीलन वढ़ाकर वहाँ बैठकर काम करनेवालों की मानसिक क्रिया कितनी कम हो जाती है इस वात का भी पता लगाया गया है। कमरे में वायु-परिवर्तन होना आवश्यक है। जब आँधी और लू न हो तव दरवाजे और खिड़कियाँ खुली रखनी चाहिए। कमरे में अधिक गर्मी, सीलन या अधिक ठंढ न होनी चाहिए।

वालक के स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखने और काम को रोचक बनाने पर भी काम करने से थकावट तो अवश्य आवेगी। इसके लिए केवल विश्राम ही एक मुख्य उपाय है। विषय-परिवर्तन, कार्य-परिवर्तन इत्यादि वातों का हम स्कूल में प्रयोग करते हैं। उसका भी अभिप्राय एक प्रकार का विश्राम देना है। विश्राम के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि जो अङ्ग वहुत देर तक काम कर चुका हो उससे काम न लेना और दूसरे को काम में लगाना। हाथ-पैर चलाने से थक जाने के उपरान्त हम बैठकर समाचार-पत्र को बड़े ध्यान से पढ़ सकते हैं। मानसिक कार्य करने के उपरान्त हम खेल-कूद में भाग ले सकते हैं। इसी प्रकार का विश्राम हम विषय-परिवर्तन में देते हैं। किन्तु सारे शरीर में थकावट आ जाने पर सारे शरीर को विश्राम देने की आवश्यकता होती है। निद्रा से बढ़कर कोई

विश्राम नहीं हो सकता और दिन का कार्य समाप्त करने के बाद प्रतिदिन ही हम सब यह विश्राम लेते हैं।

विषय-परिवर्तन के लिए हर स्कूल में समय-विभाग-चक्र होता है। यह चक्र थकावट के नियमों को ध्यान में रखकर बनाया जाना चाहिए। पहला नियम तो यह है कि एक ही विषय बहुत अधिक समय तक न चलाना चाहिए और यह समय बालकों की आयु का ध्यान रखकर नियत होना चाहिए। छोटे बालक एक विषय पर अधिक समय तक ध्यान नहीं दे सकते। उनके लिए ३० या ३५ मिनट का घंटा पर्याप्त है। ४५ और ५० मिनट से अधिक एक विषय को किसी कक्षा में न पढ़ाना चाहिए। दूसरा नियम यह ध्यान में रखना चाहिए कि पहले घंटे के काम में शरीर के जिन अवयवों पर श्रम पड़ता है उन्हीं पर दूसरे घंटे के काम में न पड़े। एक घंटे में गणित है तो दूसरे में ड्राइंग रख सकते हैं, पर व्याकरण नहीं। तीसरा नियम यह है कि जब बालक स्कूल आते हैं उस समय उनकी तबीअत हरी रहती है और उनका मस्तिष्क कठिन काम में लग सकता है। इसलिए कठिन विषय पहले या दूसरे घंटे में रखने चाहिए। बहुत से प्रयोग करने के उपरान्त विषयों की कठिनाई निश्चित की गई है। अगर गणित की कठिनाई १०० एकाई मान ली जाय तो संस्कृत की ९०, शारीरिक कसरतों की ९०, इतिहास, भूगोल की ८५, नेचर स्टडी (प्रकृति-निरीक्षण) ८०, और ड्राइंग, दस्तकारी इत्यादि की ७५ एकाई के लगभग होगी। विषयों को सोच-समझकर समय-विभाग-चक्र में रखना चाहिए। यह बात भी ध्यान में रखी जाय कि लगातार मानसिक कार्य करने से शरीर में धीरे धीरे कुछ थकान उत्पन्न हो जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि थोड़ी देर काम करने के उपरान्त कुछ समय के लिए बालकों को मानसिक काम से छुट्टी दे दी जाय। इस अभिप्राय से बीच में दो तीन बार पन्द्रह अथवा बीस मिनट और आध घंटे की छुट्टी दी जाती है। बालक की रुचि का भी ध्यान वर्तमान काल में बहुत रक्खा जाने लगा है। बहुत-सी नई नई शिक्षा-प्रणालियाँ, जिनका उल्लेख करने की यहाँ जगह नहीं है, सोच निकाली गई हैं। उनके बारे में अधिक जानकारी के लिए अध्यापकों को दूसरी पुस्तकें पढ़नी चाहिए।

———

१३—बुद्धि-परीक्षा

XIII. Intelligence: testing

वर्तमान काल के मनोविज्ञान में कोई विषय ऐसा नहीं है जिसके बारे में मनोविज्ञानवेत्ताओं ने इतना सोच-विचार किया हो जितना कि बुद्धि-परीक्षा पर। स्कूल के बालकों और कालिज और विश्व-विद्यालयों के छात्रों पर नाना प्रकार के प्रयोग इस अभिप्राय से किये गये हैं कि उनकी बुद्धि का कुछ पता चले और उन्हें शिक्षा देने में सहायता मिले। बुद्धि अथवा मनीषा क्या वस्तु है, बुद्धि और ज्ञान में क्या सम्बन्ध है, बुद्धि की जाँच करने से क्या सुगम प्रयोग हो सकते हैं,—इन सब बातों पर विचार किया गया है। वैसे तो बुद्धि शब्द को सभी समझते हैं और बुद्धिमान् और मूर्ख में क्या भेद है इसे प्राचीन काल से आज तक सब जानते आये हैं, परन्तु विज्ञान की दृष्टि से बुद्धि क्या वस्तु है और किस यन्त्र से उसे नाप सकते हैं यह बात केवल गत २५ या ३० वर्ष से ही कुछ कुछ स्पष्ट हो सकी है। बुद्धि-सम्बन्धी हर एक बात का ठीक ठीक पता अभी नहीं लगा है। कई एक प्रश्न ऐसे हैं जिन पर अब भी मतभेद है और घोर वाद-विवाद जारी है। परन्तु इस सम्बन्ध में विद्वानों ने इधर खूब काम किया है और हर एक अध्यापक को इस विषय में थोड़ी-बहुत जानकारी रखनी आवश्यक है। इस जानकारी से केवल उसके ज्ञान की ही वृद्धि नहीं होगी किन्तु उसको अपने शिक्षा-प्रदान करने के कार्य में भी बहुत कुछ सहायता मिलेगी।

प्राचीन काल में वही बुद्धिमान् समझा जाता था जिसके पास बहुत विद्या होती थी। विद्वान् होना चतुरता का चिह्न है। लोगों की यह धारणा थी कि जितने अधिक विषयों को कोई व्यक्ति जानता है वह उतना ही अधिक बुद्धिमान् है। जिस व्यक्ति को बहुत-सी विद्याएँ सिखा दी गई हैं वह बुद्धिमान् है और दूसरा, जिसको उन विद्याओं का ज्ञान नहीं है, मूर्ख है। मन एक कोरा पत्र है, अथवा खाली कुण्ड के समान है। शिक्षा के द्वारा उस कोरे पत्र पर जितना ही अधिक लिख दिया जायगा उतना ही वह बुद्धिमान् हो जायगा, या उस कुण्ड में जितनी ही अधिक विद्या भर देंगे उतनी ही बुद्धिमत्ता उसमें बढ़ जायगी। जब तक मन के बारे में कोरे पत्रवाला सिद्धान्त माना जाता

रहा तब तक 'बुद्धि की थाह विद्या के द्वारा लग सकती है' इसी बात पर लोग विश्वास करते रहे। जब इस सिद्धान्त का खण्डन कर दिया गया और दूसरी कल्पनाएँ उपस्थित की गईं तब बुद्धि के बारे में विचार पलटने लगा।

बुद्धि और विद्या में भेद है। मन कोरा पत्र नहीं है। मन में बहुत-सी शक्तियाँ होती हैं जिनका हम विद्याध्ययन में प्रयोग करते हैं। ये शक्तियाँ हमको विद्या प्राप्त करने में सहायता देती है और वे यह भी निश्चय करती हैं कि प्राप्त की हुई विद्या का प्रयोग हम कहाँ तक कर सकते हैं। जो अपनी विद्या का अधिक प्रयोग कर सकता है वही अधिक बुद्धिमान् है। मनोविज्ञानवेत्ताओं ने मन-सम्बन्धी पुरानी कल्पनाओं का ज्यों ज्यों संशोधन किया त्यों त्यों इस प्रश्न पर अधिक प्रकाश पड़ता गया। अतएव अध्यापकों के लक्ष्य में भी इन्हीं कल्पनाओं के अनुसार यथायोग्य परिवर्तन होने लगा। अध्यापक पहले तत्त्वज्ञान देना ही अपना कर्तव्य समझते थे किन्तु अब वे मानसिक शक्तियों के विकास पर भी ध्यान देने लगे। वे जान गये कि बालक की बुद्धि और मानसिक शक्ति पर ही विशेष ध्यान देना चाहिए। केवल विद्या प्रदान करने पर ही अध्यापक को अधिक जोर न देना चाहिए। इस बात के प्रचलित हो जाने से अध्यापकों के विचारों में ऐसा परिवर्तन हुआ और विद्या के प्रति उनके मन में इतना प्रक्षेपण उत्पन्न हुआ कि वे एक विद्याहीन किन्तु बुद्धिमान् छात्र की कल्पना करने लगे। किसी कल्पना के प्रति जब प्रतिक्रिया होती है तब ऐसा ही होता है। थोड़े समय में उनके विचार स्थिर होने लगे और बुद्धि-विकास के लिए विद्या का होना कहाँ तक आवश्यक है इसका ज्ञान उन्हें होने लगा। मनोविज्ञान ने बड़ी सहायता की। उसकी सहायता से यह प्रश्न कि मन (जिससे विद्या के समूह का तात्पर्य नहीं है) किस प्रकार नापा जाय, हल हो गया। विद्या कितनी है इस बात का जाँचना और नापना तो प्राचीन काल से होता ही चला आ रहा है और सभी जानते हैं। पर मन किस प्रकार नापा जाय इस प्रश्न का उत्तर वर्तमान काल ही में मिला है। मनोविज्ञानवेत्ताओं ने मन को नापने की रीतियों को ही जानने की चेष्टा नहीं की है किन्तु उन्होंने मन नापने के मानों को गणित के अंकों में प्रकाशित किया है। गणित के अंकों के उपयोग के कारण एक बात की तुलना दूसरी बात से निश्चित रूप से की जा सकती

है। परिमाणात्मक मान गुणात्मक मान से कहीं उत्तम और विश्वास-योग्य माना जाता है। यह कहना तो बिलकुल सत्य न होगा कि मन के हर एक अंश का परिमाणात्मक मान हो सकता है, परन्तु परिमाणात्मक मान अधिकतर विषयात्मक होता है, इसलिए यही प्रयत्न किया गया है कि जहाँ तक हो सके जितने अंशों को परिमाणात्मक रीति से नापा जा सके उतना ही उत्तम होगा।

हम पहले कह आये हैं कि विद्या का मान तो प्राचीन काल में भी किया जाता था और वर्तमान काल की परीक्षाएं उसी बात का नमूना हैं, पर वर्तमान काल में मनोविज्ञान ने मानसिक शक्ति को नापने का प्रयत्न किया है। मनुष्य की बुद्धि उसे परम्परा से प्रदान होती है परन्तु उसका विकास परिस्थिति में ही हो सकता है। परिस्थिति को ध्यान में रक्खे बिना बुद्धि का मान हो ही नहीं सकता। बुद्धि की सहायता से मनुष्य विद्या सुगम रीति से प्राप्त करता है। विद्या परिस्थिति से ही मिलती है। इसलिए विद्या का कुछ न कुछ प्रयोग भी हमें करना आवश्यक है। किसी मनुष्य में गणित बुद्धि है या नहीं इस बात को जाँचने के लिए गणितरूपी परिस्थिति का प्रयोग करना पड़ता है।

कई सौ वर्ष हुए जब प्रथम बुद्धि को विद्या से पृथक् नापने का प्रयत्न किया गया था। मनोविज्ञानवेत्ताओं ने यह विचार किया कि बुद्धि का पता शारीरिक दशाओं से लग सकता है। सिर पर मुख्य रीति से ध्यान दिया गया क्योंकि मन और मस्तिष्क में भारी सम्बन्ध है। गाल (Gall) और स्पर्जहीन (Spurzheim) ने सिर की नाप और बुद्धि में सम्बन्ध की कल्पना उपस्थित की। बड़ा सिर होना बुद्धिमत्ता का चिह्न है और छोटा सिर मूर्खों का होता है। फिर लैवेटर (Lavater) ने मनुष्य के चेहरे की आकृति, आँख और नाक की बनावट पर जोर दिया। ये बातें १८वीं शताब्दी में प्रचलित रहीं। १९वीं शताब्दी में भी लंब्रासो (Lombroso) ने, जिसे अपराध-विद्या के अध्ययन में बड़ी रुचि थी, शारीरिक चिह्नों और बनावट पर जोर दिया। उसने एक कल्पना यह भी उपस्थित की कि अपराधी बुद्धिहीन होते हैं। जिन लोगों में मानसिक दुर्बलता होती है वे ही अपराधी होते हैं। चतुर मनुष्य अपराधी नहीं हो सकता। इस बात का खण्डन बर्ट (Burt) ने वर्तमान काल में किया है। कोई २५ वर्ष हुए पियरसन (Pearson) ने गणित का प्रयोग करके इस बात को सिद्ध

किया कि शारीरिक आकृतियों में और मानसिक शक्तियों में जैसा सम्बन्ध कहा जाता है वैसा नहीं है। उसने एक गणित के नियम का उपयोग किया। इस नियम का नाम अनुबन्धक गुणक (Coefficient of correlation) है और इसके द्वारा दो बातों का सम्बन्ध मालूम किया जा सकता है। इस क्रिया का वर्णन तथा उसके गणित का प्रयोग बताने की आवश्यकता नहीं है। यह कहना मिथ्या न होगा कि गणित के इस नियम के उपयोग ने बुद्धि की जाँच के प्रश्न पर बड़ा प्रभाव डाला है और परिमाणात्मक रीतियों का पूरा विकास किया है। यदि किसी कक्षा के बालकों ने दो विषयों, जैसे इतिहास और भूगोल, में परीक्षा देकर कुछ नम्बर पाये हों और हमें उन नम्बरों की तुलना करनी हो तो इस अनुबन्धक गुणक की क्रिया की सहायता से उनकी तुलना कर सकते हैं, और दोनों विषयों के नम्बरों में परिमाणात्मक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

बुद्धि अथवा मनीषा के नापने की ठीक रीति मालूम करने का श्रेय आल्फ्रेड बिने (Alfred Binet) का है जिन्होंने कोई २५ वर्ष हुए इस विषय का अन्वेषण किया था। ये सज्जन फ्रांस देश के मनोविज्ञानवेत्ता थे और इनको वहाँ के शिक्षा-विभाग ने इस कार्य पर नियुक्त किया था कि वे इस बात का पता लगावें कि पाठशालाओं में कितने बालक ऐसे हैं जो बुद्धिहीन गिने जा सकते हैं। बुद्धिहीन बालकों को बुद्धिमान् बालकों के साथ रखकर उनसे वही काम कराने में, जो बुद्धिमान् बालक कर रहे हैं, उनका समय नष्ट होता है और वह आगामी जीवन के लिए तैयार नहीं हो पाते। उन्हें ठीक तरह से शिक्षा देने के लिए उनके अनुकूल पाठशाला होनी चाहिए जिनमें उनकी बुद्धि के अनुसार ही शिक्षा-प्रणाली भी हो। इन बुद्धिहीन बालकों के छाँटने के लिए बिने ने बालकों की ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियों की परीक्षा करनी आरम्भ की। परन्तु इससे कुछ लाभ न हुआ, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है जिसकी दृष्टि अथवा सुनने, अथवा चखने की शक्ति तीव्र हो वह बुद्धिमान् भी हो। बिने ने यह सोचा कि जिस शक्ति को हम बुद्धि कहते हैं उसका उपयोग मनुष्य तब करते हैं जब उनके सम्मुख कोई नई समस्या उपस्थित हो। जितनी सुगमता और जितनी शीघ्रता से मनुष्य किसी कठिन मामले को समझ ले और सुलझा सके वह उतना ही बुद्धिमान् है। बुद्धिमान् बालक बहुत कम अवसरों पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो सकता

हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति अभिप्राय को शीघ्र समझ लेता है, और उसके ज्ञान हो जाने पर वह अपने मन को उचित मार्ग में लगाता है। कठिन प्रश्न सामने आने पर वह अन्धकार में टटोला नहीं करता। बुद्धि की सहायता से उपस्थित समस्या पर विचार करता है। उसमें ठीक मार्ग पर जाने और बे ठीक मार्ग को जान-बूझकर बचाने की योग्यता होती है। इन सब बातों पर बिने ने विचार करके यह निश्चय किया कि बालक को कुछ प्रश्न देकर और उससे उसकी आयु के अनुसार कुछ मानसिक कार्य कराकर उसकी बुद्धि का पता लगाया जा सकता है।

बिने ने अपने कार्य में एक दूसरे महाशय साइमन (Simon) की सहायता ली थी। उन्होंने बालकों से पूछने और कराने के लिए लगभग ६० प्रश्न तैयार किये। फिर उन्होंने उनमें से केवल ५४ ही ठीक समझे। यह बिने-साइमन-माप कहलाने लगा। कुछ समय बीतने के उपरांत अमेरिका और इँगलैंड से इस माप का संशोधन किया गया और वर्तमान काल में इस माप में ६५ प्रश्न रक्खे गये हैं। बिने ने इन प्रश्नों को बहुत-सी पाठशालाओं के कई हजार बालकों को दिया और यह पाया कि आयु के अनुसार बालकों ने उन प्रश्नों का उत्तर दिया था। कुछ प्रश्न ऐसे थे जिनको सभी ३ वर्ष के साधारण बालक कर सकते थे। कुछ ऐसे थे जो ४ वर्ष के बालक कर सकते थे। और कुछ ५ वर्षवाले इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार १५ वर्ष के बालकों तक के लिए बिने के माप में प्रश्न थे। हजारों बालकों को देकर उसने इस माप की सत्यता को प्रमाणित किया और बालकों की बुद्धि को जाँचने के लिए इस माप को प्रयोग में लाने लगा। जो बालक कि ५ वर्ष के थे और वे ५ वर्षवाले सब प्रश्नों को कर सकते थे उनकी मानसिक आयु ५ वर्ष की कहना उसने निश्चित किया। और यदि ५ वर्ष का बालक केवल उन्हीं प्रश्नों को कर सकता है जो कि चार वर्ष के बालकों के लिए नियत हैं तो उसकी मानसिक आयु ४ वर्ष की होगी। इसके विपरीत यदि वह उन प्रश्नों को कर सकता है जो छः या सात वर्ष के बालक के लिए निश्चित हैं तो उसकी मानसिक आयु छः या सात वर्ष की मानी जायगी।

किसी बालक की मानसिक आयु का ज्ञान होने के उपरान्त उसका मानसिक भजनफल मालूम किया जा सकता है।

$$\text{मानसिक भजनफल} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वार्षिक आयु}} \times १००$$

अगर किसी बालक की आयु १० वर्ष है और वह ११ वर्षवाले प्रश्न शुद्ध कर सकता है तो उसकी मानसिक आयु ११ वर्ष की हुई और मानसिक भजनफल

$$\frac{११}{१०} \times १०० = ११०$$ हुआ।

यह निश्चय किया गया है कि जिस व्यक्ति का मानसिक भजनफल १४० या उससे अधिक होता है वह अलौकिक बुद्धिमान् समझा जाना चाहिए। १२० से १४० तक महान् बुद्धिमान्, ११० से १२० उत्तम बुद्धिमान्, ९० से ११० तक साधारण बुद्धिवाला, ८० से ९० साधारण के लगभगवाला, ७० से ८० मन्द बुद्धिवाला और ७० से नीचे बुद्धिहीन। जिस व्यक्ति का मानसिक भजनफल २० या २५ के लगभग हो बुद्धि में उसे पूरा पशुवत् समझना चाहिए।

बिने के सब प्रश्नों का उल्लेख यहां नहीं किया जा सकता। परन्तु नमूने के लिए कुछ प्रश्न लिख जाते हैं जिनसे यह पता लग सकता है कि बिने ने किन किन बातों के जानने की चेष्टा की थी।

३ वर्ष के लिए—

(१) अपना नाक, मुख, कान ..उँगली से बता सकना।

(२) अङ्क जैसे ४, ६...२, ७... ६, ८...एक बार सुनकर दोहरा सकना।

(३) बालक स्त्री है या पुरुष इस बात का ज्ञान रखता है या नहीं।

(४) अपना नाम बता सकता है या नहीं।

(५) साधारण वस्तुएं जैसे पैसा, ताला, कटोरा, लोटा पहचानता है या नहीं।

(६) यदि उसे कोई साधारण और सरल तसवीर दिखाई जाय तो उसमें वह दो तीन बात देख सकता है या नहीं।

× × × ×

११ वर्ष के लिए—

(४९) अ्राहत और वाहियात बात कहां तक पकड़ सकता है—

(क) एक लड़का साइकिल से गिरकर मर गया। पता नहीं अच्छा होगा या नहीं।

(ख) एक लड़की ने अपने को १८ भागों में काट डाला। कहते हैं उसने आत्महत्या की।

(ग) एक लड़के ने शनिवार के दिन आत्महत्या नहीं की क्योंकि वह दिन अशुभ माना जाता है।

× × × ×

(५०) कठिन प्रश्नों का उत्तर दे सकना—

(क) किसी व्यक्ति को जो कुछ वह करता है उससे, न कि जो कुछ कहता है उससे क्यों ठीक ठीक जान सकते हैं?

(ख) कोई कठिन काम करना हो तो उससे पहले क्या करना चाहिए।

× × × ×

(५३) तीन दिये हुए शब्दों का प्रयोग करके एक वाक्य एक मिनट में बना सकता है या नहीं— जैसे—बनारस, द्रव्य, नदी।

प्रश्न परिस्थिति तथा मानसिक शक्तियों को पूरा ध्यान में रखते हुए चुने गये हैं। कुछ प्रश्न सरल गणित, शकल बनाना, तसवीर पहिचानना, तर्क कर सकना, प्रत्याहृत बातों को समझ सकना इत्यादि इत्यादि बातों के बारे में बिने के माप में रक्खे गये हैं। पूरी ६५ प्रश्नों की सूची को देखने से ज्ञात हो सकता है कि प्रश्नों में मनोविज्ञान की दृष्टि से कोई त्रुटियाँ नहीं हैं। यदि उनका प्रयोग करना हो तो परिस्थिति में अन्तर होने से प्रश्नों में भी फेर-फार करने की आवश्यकता होगी। हर देश और संस्था में वही एक प्रश्न नहीं पूछे जा सकते। मानसिक शक्तियाँ मनुष्यमात्र में वही हैं पर उनका विकास पृथक् पृथक् परिस्थितियों में होता है। प्रश्नों में मौलिक भेद करने की आवश्यकता बहुत कम है। परन्तु परिस्थिति के अनुसार फेर-फार करना ही पड़ेगा। बर्ट (Burt) ने इंगलैंड में और टरमेन (Terman) ने अमरीका में बिने के माप का संशोधन किया है और उसकी त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया है।

अब हम बिने के माप पर कुछ विचार करेंगे।

जैसा हम कह आये हैं, मनोविज्ञान की दृष्टि से बिने ने अपने माप के बनाने में कोई त्रुटि नहीं रखी। परन्तु इस माप को काम में लाने में बहुत-सी कठिनाइयाँ सामने उपस्थित होती हैं। पहली बात तो यह है कि इस माप का प्रयोग करने में समय बहुत नष्ट होता है। अगर केवल एक या दो बालकों की जाँच करनी हो तो कोई बात नहीं, परन्तु जब सैकड़ों बालकों की जाँच करनी

हो तो एक अध्यापक कितनों की परीक्षा ले सकता है? एक बालक की ही परीक्षा एक समय म की जा सकती ह क्योंकि प्रश्न मौखिक पूछने पड़ते हैं। अगर बुद्धि की जाँच विस्तारपूर्वक करनी है तो एक एक करके करना असम्भव हो जायगा। अमेरिका में फौज की भर्ती के लिए मनोविज्ञानवेत्ताओं से कहा गया था। उन्होंने सोच-विचार कर ऐसी परीक्षा-प्रणाली निकाली कि जो एक साथ बहुत-से व्यक्तियों को दी जा सके। जैसे साधारण परीक्षा प्रश्न-पत्र-द्वारा की जाती है वैसे बुद्धि-परीक्षा भी प्रश्न-पत्र-द्वारा होने लगी। मनुष्यों के बड़े बड़े समूहों की बुद्धि-परीक्षा पहले-पहल अमेरिका में की गई। फिर सामूहिक परीक्षा का प्रयोग दूसरे देशों में भी होने लगा। सामूहिक परीक्षा के मापों को भी प्रामाणिक बनाया गया है।

वर्तमान काल में सामूहिक परीक्षा के कई एक माप काम में लाये जाते हैं टरमेन ने अमेरिका में टरमेन-समूह-परीक्षा-पत्र तैयार किये हैं। इँगलैंड में बैलार्ड (Ballard) ने चेलसी (Chelsea) परीक्षा-माप, वर्ट और टामसन (Godfrey Thomson) ने नार्थम्बरलैंड परीक्षा-माप इत्यादि बनाये हैं। समूह-माप का अब पाठशालाओं में बहुत प्रयोग होने लगा है। समूह-माप से कम समय में बहुत-से बालकों की परीक्षा की जा सकती है। परन्तु यह अवश्य मानना पड़ेगा कि पूरी जाँच जुदे-जुदे बालकों की अलग अलग ही की जाय तभी हो सकती है। सामूहिक परीक्षा लेने के उपरान्त जिन बालकों की बुद्धि के माप में संदेह होता है उनकी बुद्धि को विने-मापन के द्वारा निश्चय किया जा सकता है। प्रायः यह किया भी जाता है।

समूह-मापन के बनाने में भी उन्हीं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को ध्यान में रक्खा गया है जिन्हें कि विने ने ध्यान में रक्खा था। अगर विने जीवित रहता तो वह स्वयं ही समूह-माप तैयार कर देता। किसी समूह-माप को पूरा पूरा तो यहाँ नहीं लिखा जा सकता, परन्तु कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं।

निम्नलिखित परीक्षाएँ टामसन के नार्थम्बरलैंड-मापन से चुनी गई हैं:—

(१) नीचे लिखी शब्दावली की श्रेणी में से उस शब्द को काट दो जो श्रेणी में उचित न प्रतीत होता हो:—

बाल पर ऊन घास लट
दान दया क्षमा बदला प्रेम

× × × ×

(२) नीचे लिखी अङ्कमाला में जो अङ्क अपनी श्रेणी में उचित न प्रतीत होता हो उसे काट दो।—

२६ ३ ७ ३९ १३ ५२
१८ २२ ३० २४ ६ १२

× × × ×

(३) अग्रलिखित प्रत्येक लकीर के पहले दो शब्दों में कुछ सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध को मालूम करो और दिये हुए शब्दों में जिस शब्द का तीसरे शब्द के साथ वही सम्बन्ध हो उसके नीचे लकीर खींचो।

बन्दूक : निशाना लगाना : : चाकू : दौड़ना, काटना, चिड़िया, टोपी। जूता : पैर : : टोपी : कोट, नाक, सर, कालर।

× × × ×

ये तीन परीक्षाएँ केवल नमूने के लिए दी गई हैं। हर परीक्षा में कितने ही अङ्क और श्रेणियाँ होती हैं। यह सब प्रश्न-पत्र की तरह छपा हुआ रहता है और प्रत्येक बालक को एक एक प्रश्न-पत्र बाँट दिया जाता है। हर प्रकार की परीक्षा के लिए नियत समय दिया जाता है और उतने समय में बालक जितना पूरा कार्य कर सकता है उतना कर डालता है। सब मापन प्रमाणानुसार किये गये हैं और उनसे यह मालूम किया जा सकता है कि अमुक प्रश्नों का शुद्ध उत्तर देने से बालक की मानसिक आयु अमुक है।

ऊपर लिखे हुए मापों का प्रयोग करने में एक कठिनाई और बीच में आ पड़ती है। इन सब प्रश्नों को समझने और उनका उत्तर देने के लिए यह आवश्यक है कि बालक को भाषा का ठीक बोध होना चाहिए। भाषा के ज्ञान बिना इन परीक्षाओं में सम्मिलित होना असम्भव है। इस बात को ध्यान में रखकर निरक्षर बालक तथा गूँगे, बहरे इत्यादि के लिए, जिन्हें भाषा अच्छी तरह नहीं आती, कुछ हाथों से कर सकने योग्य परीक्षाएँ बनाई गई हैं। ड्रीवर (Drever) ने बहरे और गूँगे बालकों के लिए मापन बनाया है और उसे प्रमाणित किया है।

किसी नई बात के आरम्भ करने में कठिनाइयाँ सामने अवश्य आती हैं। बुद्धि-परीक्षा के काम में जो कठिनाइयां सामने उपस्थित हुई हैं उन्हें मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने सुलझाने का पूरा प्रयत्न किया है। मापन में जो जो त्रुटियाँ पाई जाती हैं उनका निवारण करने की बराबर चेष्टा की जा रही है। पश्चिमी देशों में बुद्धि-परीक्षा बहुत कुछ की जा रही है और इस परीक्षा से कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का पता लगा है जिन पर अब हम विचार करेंगे।

एक बात तो यह है कि इस मापन-द्वारा बालकों की मानसिक शक्ति का बहुत कुछ पता लग सकता है। उस मानसिक शक्ति के समूह को, जिसका पता हम परीक्षा-द्वारा लगाते हैं, हम चाहे बुद्धि कहें चाहे मनीषा। परीक्षा से यह बात और ज्ञात होती है कि बुद्धि, जिसे कि हम जाँचते हैं, भिन्न भिन्न बालकों में भिन्न भिन्न परिमाण में होती है। किसी बालक में यह बुद्धि कम होती है और किसी में अधिक। यह बुद्धि बालक को परम्परा से प्रदान होती है और इसकी वृद्धि हमारे हाथ में नहीं है। स्कूल में सिखाने-पढ़ाने से इस बुद्धि का विकास होता जाता है। परन्तु इसमें वृद्धि नहीं हो सकती। किसी बालक के मानसिक भजनफल को पाठशाला की शिक्षा घटा-बढ़ा नहीं सकती। यह बात कई बार कितने ही बालकों की परीक्षा करके निश्चित की गई है। एक ही बालक को भिन्न भिन्न आयु में शिक्षा से पाये हुए मानसिक भजनफल का अनुबन्धक गुणक ९ से ऊपर ही पाया जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि मानसिक भजनफल में परिवर्तन नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि मानसिक आयु १६ वर्ष की आयु के उपरान्त बढ़ना बन्द हो जाती है। कुछ मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं १४ या १५ ही वर्ष पर वृद्धि समाप्त हो जाती है, कुछ कहते हैं १६ या १८ वर्ष तक बुद्धि बढ़ सकती है। यह अवश्य है कि जितना बुद्धिमान् बालक होगा उतनी ही अधिक आयु तक उसकी मानसिक आयु में वृद्धि होगी। मन्द बुद्धि के बालक अपनी अधिक से अधिक मानसिक आयु पर १४ वर्ष में पहुँच जाते हैं। परन्तु उत्तम और महान् बुद्धिमानों की मानसिक आयु १८ वर्ष तक बढ़ती है।

बुद्धि के मापन-द्वारा हम बालक की बुद्धि का पता अवश्य लगा सकते हैं परन्तु बालक के मन का पूरा ज्ञान हम नहीं प्राप्त कर सकते। मन की दो

मुख्य वृत्तियाँ होती हैं एक बुद्धि-विषयक और दूसरी भाव-विषयक। हम इन मापों से केवल बुद्धि-विषयक वृत्ति का पता लगाते हैं। बालक की भाव-वृत्ति क्या है, उसका स्वभाव कैसा है, उसका चरित्र किस प्रकार का है— इन बातों का पता इन मापों से नहीं लग सकता। बालक बुद्धिमान् होते हुए भी दुश्चरित्र हो सकता है और मन्दबुद्धि होते हुए भी वह सुचरित्र हो सकता है। बुद्धिमान् और सुचरित्र दोनों होने से व्यक्ति आदर्श होता है। चरित्र-संगठन, जैसा पहले कह आये हैं, इस बात पर निर्भर होगा कि बालक की प्राकृतिक वृत्तियों का विकास कैसी परिस्थिति में हुआ है। भाववृत्ति के मापने का प्रयत्न भी किया जा रहा है परन्तु अभी यह काम ऐसी स्थिति में नहीं पहुँच पाया कि उससे ऐसे परिणाम निकल सके हों जिनसे अध्यापक को शिक्षा के कार्य में अधिक सहायता मिल सके।

बुद्धिमापन के कार्य से कुछ बातें ऐसी विदित होती हैं जिन पर अध्यापक को ध्यान देना चाहिए और जिनका उसे अपने कार्य में प्रयोग करना चाहिए। हम कह चुके हैं कि मानसिक भजनफल पाठशाला में पढ़ाने-लिखाने से बढ़ाया नहीं जा सकता। प्राचीन काल के अध्यापकों का यह विश्वास था कि वे बालक को अधिक बुद्धिमान् बना सकते थे। विद्वान् बनाना पाठशाला के हाथ में अवश्य है पर बुद्धिमान बनाना नहीं। अब यदि बालक को अधिक बुद्धिमान् नहीं बनाया जा सकता है और यदि उसकी परम्परा से प्राप्त बुद्धि में परिवर्तन नहीं किया जा सकता तो स्थूल दृष्टि से यह मालूम होता है कि अध्यापक के करने के लिए कोई अधिक काम नहीं रह गया। परन्तु वास्तव में अध्यापक का कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है। एक ऐसी परिस्थिति उपस्थित करना जिसमें बालक अपनी बुद्धि का पूरा प्रयोग कर सके, बालक को इस प्रकार सिखाना कि उसकी बुद्धि के योग्य जो बातें हैं वही सब उसे करने को मिलें और उसके जीवन का अमूल्य समय वृथा को नष्ट न किया जाय, ये बातें अध्यापक के पूरे ध्यान देने योग्य हैं। फिर रहा बालक के व्यवसाय का प्रश्न। व्यवसाय का प्रयोग करने के लिए बालक को उचित सीमा तक उत्तेजित करना भी अध्यापक ही का काम है। बालक का चरित्र बनाना और जिस देश और समाज में उसे रहना है उसको उसके उपयोगी बनाना यह भी पाठशाला का ही कर्त्तव्य कर्म है।

पाठशाला के साधारण शिक्षक के काम में भी बुद्धि-परीक्षा से ज्ञात हुई कुछ बातों को ध्यान में रखा जाना अवश्यक हैं। हमको यह बात ज्ञात है कि बालकों की मानसिक शक्तियों में अन्तर है। उस अन्तर को अगर हम ध्यान में न रक्खें और दरजे में काम करते समय 'सब धान बाईस पसेरीवाली' कहावत के अनुसार काम करें तो समय भी नष्ट होगा और बालकों को पर्याप्त लाभ भी न होगा। बालकों की मानसिक शक्ति में अन्तर होने के कारण हमें हर एक बालक को एक पृथक् व्यक्ति मानना पड़ेगा। बालक के व्यक्तित्व को ध्यान में रक्खे बिना हम अपने कार्य में सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। पहले तो हमको मापों-द्वारा इस बात का पता लगाना चाहिए कि कौन-सा बालक कौन-सी श्रेणी का है। कोई दो बालक एक-से न होंगे। फिर यह बात भी हमको मापन से ज्ञात हो सकती है कि किसी बालक के आगे न बढ़ने का कारण उसका बुद्धिहीन होना है या और कोई बात जैसे व्यवसाय का प्रयोग न करना इत्यादि।

बुद्धिहीन और मन्द बुद्धिवाले बालकों के लिए विलायत में अलग स्कूल हैं। जाँच कर लेने के उपरान्त ये बालक वहाँ भेज दिये जाते हैं। वहाँ उनकी पढ़ाई उनकी बुद्धि के अनुसार होती है। जब यहाँ भी बुद्धि-मापन का उपयोग किया जाने लगेगा तब इस देश में भी ऐसे स्कूल खोले जा सकेंगे। साधारण स्कूलों के विद्यार्थियों को पढ़ाते समय भी उनकी बुद्धि के व्यक्तिगत अंतरों का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। बुद्धिमान् बालकों को छाँटकर उनके योग्य कठिन काम देना उतना ही आवश्यक है जितना कि मन्द बुद्धिवालों को उनके उपयुक्त सरल काम का देना है। सच पूछा जाय तो कुल दरजे के बालकों को एक साथ हर समय पढ़ाना उपयोगी नहीं माना जा सकता। वर्तमान काल में बालकों को पृथक् पृथक् काम देकर उन्हें अलग अलग अपना काम करने देने की प्रथा बढ़ती जा रही है। व्यक्तित्व पर जितना ध्यान दिया जायगा उतना ही अधिक ध्यान इस प्रकार की व्यक्तिगत शिक्षा पर देना पड़ेगा। कभी बालकों को एकत्रित करके पढ़ाना उपयोगी होगा, और कभी उनको जुदा जुदा काम देकर। पहले जुदा काम देने की प्रथा कम थी किन्तु अब वह बढ़ती जाती है।

१४—बालकों के कुछ साधारण दोष और उनका विश्लेषण

XIV. Some Common Faults of Children and their Analysis

बालक की मनोवृत्तियों और उसकी मानसिक शक्तियों के बारे में हम अपने विचार प्रकट कर चुके हैं। बालक के मनोविज्ञान का ज्ञान होने से अध्यापक को कितना लाभ हो सकता है यह बात धीरे धीरे स्पष्ट कर चुके हैं। मनोविज्ञान के जानने से यह विदित हो जाता है कि एक जीवित जाग्रत वस्तु के साथ, जिसकी कि शक्तियां का विकास एक विशेष प्रकार से होता है, कैसा व्यवहार करना चाहिए। मनोविज्ञान के द्वारा अध्यापक जिस शिक्षा-प्रणाली का प्रयोग करता है उसका सिद्धान्त भी समझ सकता है। एक मशीन को मिस्त्री चला सकता है और सीखा हुआ इंजीनियर भी। इंजीनियर जो करता है उसे समझता भी है। मिस्त्री केवल यन्त्रवत् काम करता है। इसी प्रकार जो अध्यापक बालक सम्बन्धी मनोविज्ञान जानता है वह मिस्त्री की तरह नहीं बल्कि इंजीनियर की तरह बालक से व्यवहार करता है। वह जो नियम काम में लाता है उनका मौलिक कारण भी समझता है। इस कारण जब उसके सम्मुख कोई नये प्रकार की कठिनाई उपस्थित होती है तो वह उसे समझ सकता है और उसका उचित उपाय कर सकता है।

सभी बालकों में एक ही प्रकार की प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ होती हैं कि उनका विकास पृथक् पृथक परिमाण में होता है। बालक अभिप्राय को समझनेवाला और अभिप्राय को सामने रखकर कार्य करनेवाला प्राणी है। दो बालकों के सम्मुख एक ही उत्तेजना उपस्थित होने से उनका व्यवहार एक ही-सा होना आवश्यक नहीं है। एक ही व्यक्ति भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न भिन्न व्यवहार करता है। किसी विशेष प्रकार का व्यवहार क्यों हुआ, वह उचित है या अनुचित, अनुचित है तो उसे उचित मार्ग में किस प्रकार लाना चाहिए—यह सब अध्यापक को जानना चाहिए। अब हम बालकों के कुछ उन व्यवहारों

का जो प्रायः अध्यापक के सम्मुख समस्याओं के रूप में उपस्थित होते हैं और उसे चिन्ता में डालते हैं, उल्लेख करेंगे और यह भी बतावेंगे कि किस समय अध्यापक को क्या उपाय करना चाहिए। परन्तु जो कुछ पाठक के सम्मुख उपस्थित किया जाता है उसे नियमावली न समझ लेना चाहिए। समझदार अध्यापक को सदा कठिनाई के ऊपर विचार करना चाहिए और काल और पात्र के अनुसार व्यवस्था करनी चाहिए। यहाँ लिखी हुई बातें केवल विचार को उत्तेजित करने के लिए हैं।

अध्यापक के दो मुख्य कार्य हैं। बालकों को विद्या-प्रदान करना और उनको सुचरित्र व्यक्ति बनाना। इस उद्देश्य से बालकों को कुछ मुख्य विषय सिखाने पड़ते हैं और शासन करना पड़ता है। जिन बातों पर हम विचार करेंगे वह इन्हीं मामलों से सम्बन्ध रखती हैं। इन बातों के ऊपर विस्तार-पूर्वक विचार तो शिक्षा-पद्धति और शासन-प्रणाली की पुस्तकों में हो सकता है, पर मनोविज्ञान जाननेवाले अध्यापक को हर घटना का विज्ञान की दृष्टि से विश्लेषण करना चाहिए। इसलिए हम संक्षिप्त रूप से इन बातों पर कुछ विचार करना आवश्यक समझते हैं।

अध्यापक प्रायः यह अनुभव करता है कि बालक ठीक ठीक अपना पाठ नहीं पढ़ते, पढ़ने में अशुद्धियाँ करते हैं, गणित उनकी समझ में नहीं आता। दरजे में बालक ध्यान नहीं देते। काम में शिथिलता करते हैं। कभी कभी छोटी छोटी बातों के बारे में झूठ बोलते हैं या छोटी मोटी वस्तुएँ चुरा लेते हैं इत्यादि इत्यादि। बहुत-से ऐसे दोषों के असली कारणों का पता हमें मनोविज्ञान से लग सकता है। ठीक कारणों का विश्लेषण हो जाने से उनका उचित उपाय भी हो सकता है। नहीं तो जहाँ प्यार और सहानुभूति से काम लेना चाहिए वहाँ दण्ड दे दिया जाता है, और दोष निवारण न होकर बढ़ जाता है। अतएव बालकों के सुधार के लिए उनकी रुचि और मनोवृत्तियों को ठीक ठीक समझना चाहिए।

(१) झूठ बोलना—सत्यवादी होना संसार में सभी उत्तम समझते हैं। अगर बालक झूठ बोलता है तो माता-पिता और अध्यापक को खेद होता है, और वे उस बुरी आदत को बालक से छुड़ाना चाहते हैं। बालक घर पर रक्खी हुई

मिठाई खा लेता है, या शीशे का गिलास तोड़ डालता है, स्कूल में स्याही की दवात गिराकर तोड़ देता है और यह नहीं कहता कि यह अपराध मैंने किया है। पूछने पर झूठ बोल देता है 'मैंने नहीं किया।' क्रोध में आकर अध्यापक या माता-पिता उसे थप्पड़ मार देते हैं और आशा करते हैं कि मार खाकर वह झूठ बोलना छोड़ देगा। सम्भव है कि कभी कभी दण्ड से सफलता मिल जाय। परन्तु मामला विचार करने योग्य है और हर समय दण्ड देना उचित भी नहीं है।

बालकों के झूठ कई प्रकार के होते हैं। उनके झूठ में और बड़ों के झूठ में कुछ अन्तर भी होता है।

(१) कभी बालक को 'नहीं' मैंने नहीं किया' यह कहने की यन्त्रवत् आदत पड़ जाती है और वह बिना सोचे-विचारे बार-बार यही कह उठता है 'मैंने नहीं किया' चाहे उसका विचार ऐसा कहने का हो या नहीं। बालक के व्यवहार का कई बार ध्यान से निरीक्षण करने से इस बात का पता लग सकता है।

(२) कभी कभी बालक 'मैंने नहीं किया' कहते समय यह भी साथ में कहता है कि 'अमुक ने किया है।' 'भाई ने तोड़ा है, या मास्टर साहब आये थे। उनसे टूट गया' इत्यादि। अपनी जगह दूसरे को स्थापित कर देता है। प्रायः यह पाया जाता है कि वह ऐसे व्यक्ति के सिर दोष देता है जिसके ऊपर आपत्ति नहीं आ सकती। इससे तुरन्त पता लग जाता है कि वह अपने सिर से आपत्ति हटा रहा है। मार-पीट से ऐसे समय काम नहीं चलता। सहानुभूति से सच बात का पता लगाया जा सकता है।

(३) अधिकतर बालकों के झूठ डर की प्रवृत्ति के कारण बोले जाते हैं। मार का डर नहीं परन्तु डर की प्राकृतिक प्रवृत्ति के कारण। कभी डर इस बात का रहता है कि जो व्यक्ति उससे प्रसन्न हैं, जिनमें उसे सदा रहना है, वे उससे अप्रसन्न हो जायँगे। उसे डर यह लगता है कि बात को सच कह देने से जिस समूह में वह रहता है उसमें गड़बड़ी पड़ जायगी और उसका सुखमय जीवन दुखी हो जायगा। ऐसी स्थिति में अगर मार-पीट हो जाती है तो आपत्ति और बढ़ जाती है और वह आगे चलकर ऐसे षड्यंत्र रचता

है जिसमें वह झगड़े से अवश्य ही बच जाय। यदि वह सामाजिक समूह, जिसमें वह रहता है, उसे किसी प्रकार यह विश्वास करा दे कि सत्यवादी होने से सब लोग प्रसन्न होंगे तो उसका डर जाता रहेगा और वह सच बोलना उचित समझेगा। कारण यह है कि वह निश्चय रूप से यह समझ जायगा कि ऐसा करने से उसके समूह की प्रसन्नता में किसी प्रकार का विघ्न नहीं पड़ेगा। बालक को सदा यही विश्वास दिलाना उचित है कि सब लोग उसका भरोसा करते हैं।

(४) कभी कभी बहुत-सी उन बातों का जिन्हें हम झूठ समझते हैं कारण यह होता है कि बालक की अपने भाव और विचार प्रकट करने की शक्ति ठीक नहीं होती। वह अपने विचारों को ठीक तरह प्रकट नहीं कर सकता। कहना कुछ चाहता है और कह कुछ जाता है। सुननेवाले यह समझते हैं कि वह बात छिपा रहा है और झूठ बोल रहा है। ऐसे बालक का निरीक्षण करके उसे अपने भावों को ठीक प्रकट करने का अभ्यास कराना चाहिए।

(५) छोटे बालक और विशेषकर वे जिन्हें कल्पना करने की बहुत रुचि होती है अकसर अपने खेल की दुनिया को वास्तविक संसार में मिला देते हैं और कल्पित बातें कहते हैं जो हमें झूठ प्रतीत होती हैं। बालक झूठी घटनाओं के बारे में बात करता है। अगर वह कहीं मेले में या यात्रा में गया हो और लौटने पर उससे कहा जाय कि अपने अनुभव सुनावे तो बहुत-सी झूठी गप्पें कह डालेगा। ऐसे बालक को औत्प्रेक्षिक विचारों से दूर कर वास्तविक विचारों पर लाने की चेष्टा करनी चाहिए।

हर मामले को बालक की आयु और समझ के अनुसार सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिए। बड़े बालकों को विश्वास दिलाकर और समझाकर काम लेने से लाभ हो सकता है। उन पर वृथा क्रोध करने से काम नहीं चलता।

(२) चोरी करना—बालक के चोरी करने और बड़ों के डाका मारने में भी थोड़ा-सा अन्तर है। यद्यपि यह सच है कि छोटे चोर से ही होते होते मनुष्य बड़ा डाकू बन सकता है। यदि चोरी बिना अभिप्राय के आरम्भ होती है तो भी आगे चलकर दूसरा रूप धारण कर लेती है। इसलिए आरम्भ ही से बालक को चोरी से बचाना चाहिए।

छोटे छोटे बालक या तो घर पर मिठाई और खेलने की वस्तुएँ चोरी करते हैं या स्कूल में चाकू, पेंसिल, कलम, कापी इत्यादि उड़ा देते हैं। बहुत-सी छोटी छोटी वस्तुएँ उनको आकर्षित करती हैं और उन्हें वे अपनाने की चेष्टा करते हैं। 'दूसरे के पास जो वस्तुएँ है मेरे पास भी होनी चाहिए' यह बात बालक के मन में उत्पन्न होती है। कभी जिज्ञासा के कारण और कभी ममता के कारण बालक वस्तु को हथिया लेते हैं। ऐसे व्यवहार की जड़ केवल उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ हैं और उसके व्यवहार में केवल उन्हीं का विकास प्रतीत होता है। उचित और व्यवहार होने से हमें वह उत्तम जान पड़ता है और अनुचित ओर जाने से वह दोषी प्रतीत होता है। जो बालक स्कूल में इस प्रकार की चोरी करते हैं उनके बारे में पहले तो यह जानना चाहिए कि वे किस प्रकार के घरों से आते हैं और उनकी दीक्षा कैसी रही है। जो बालक वस्तुओं को अपनाने की चेष्टा से चोरी करता है उसके लिए उपाय यही है कि कुछ वस्तुएँ उसे अपनाने के लिए दी जाय और उसे यह विश्वास करा दिया जाय कि वह उसकी ही हैं, वह उनका मालिक है, उसे उन्हें सँभालकर रखना चाहिए। बालक को अपनी वस्तु की वास्तविक ममता होने से वह दूसरे की ममता का भी अनुभव कर सकता है। अपनी वस्तु को अपनी समझना ठीक होने से यह भी समझ में आने लगता है कि दूसरे की वस्तु उसकी नहीं है। बहुत-से चोर बालक स्कूल में विश्वसनीय काम पर नियुक्त किये जाने पर ठीक हो जाते हैं।

एक विशेष अवस्था पर पहुँचकर बालक में अपने को दूसरों को दिखाने की प्रवृत्ति ओर करने लगती है। अपने साथियों में वह अपने को शानदार दिखाने का प्रयत्न करता है। कभी अपने साथियों को पैसे दे दिये, कभी अपने साथियों के पास जैसी वस्तु है (किताब, रुमाल, टोपी इत्यादि) उससे अच्छी और अधिक मूल्यवाली खरीदकर दिखाई। ऐसा करने के लिए पैसों की आवश्यकता होती है। 'माता या पिता से माँगेंगे, तो न मिलेगा,' इसलिए डरते डरते माता के बटुवे में से या पिता की जेब में से रुपया दो रुपया निकाल लिया जाता है। ऐसा करते समय बालक केवल अपने को बड़ा दिखाने के भाव से उत्तेजित होता है। उसका और कोई अभिप्राय नहीं होता। और

जो कुछ वह करता है उसके दोष-गुण का उसे ज्ञान भी नहीं होता। अज्ञानी चोर की तरह चोरी करता है। बालक के लिए कुछ उचित जेब-खर्च बांध देने से, जिसको कि वह मनमानी रीति से व्यय कर सके, बहुत लाभ हो सकता है। थोड़ी-सी ममता पैसों के लिए उत्पन्न होने से उसमें बचाने की आदत भी हो जाती है।

कुछ चोरियाँ बालकपन में अज्ञान और नासमझी के कारण होती हैं। कुछ समय तक बालक को इस बात का ज्ञान नहीं होता कि वस्तुएँ बाजार से मोल ली जाती हैं। बहुतेरे छोटे बालक यह समझते हैं कि बाजार से वस्तुएँ केवल 'लाई जाती' हैं। द्रव्य कहाँ से आता है या लेना-देना क्या है इसका उन्हें ज्ञान नहीं होता। वे केवल अपनी ममता की तृप्ति करने के लिए वस्तुओं को अपना लेते हैं।

घर के दुख और माता-पिता की लापरवाही के कारण भी बालक बहुत चोरी करना सीख जाते हैं। बहुत सी बातें सामाजिक हैं जिन पर यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं है। बड़ा बालक जब पहले पहल चोरी करता है और पकड़ा जाता है तो उसे खेद भी बहुत होता और उसके मन पर असर भी गहरा होता है। बालक की प्रकृति के अनुसार उसे ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(३) आलस्य और शिथिलता—कभी कभी ऐसा देखने में आता है कि दरजे में कोई कोई बालक ऐसे होते हैं जो शिथिल बैठे रहते हैं। किसी काम में मन नहीं लगाते। जिधर दूसरे बालक जाते हैं वे उधर जाना पसन्द नहीं करते और चुपचाप बैठे रहते हैं। कुछ दुख, कुछ क्रोध, कुछ निर्जीविता, सब मिली-जुली उनके मुख से टपकती हैं। ऐसी स्थिति पर विचार करने के लिए हम यह मान लेते हैं कि अध्यापक बालकों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्नशील है और शिक्षा का कार्य बालकों की रुचि के अनुसार करा रहे हैं।

इस दशा का पहला कारण तो कोई शारीरिक दोष हो सकता है। ऐसे बालकों को डाक्टर को दिखा लेना चाहिए। इसके उपरान्त उनकी बुद्धि-परीक्षा होनी चाहिए। अगर वे मन्दबुद्धि या बुद्धि-विहीनवाली श्रेणी के हैं तो वे उस कक्षा और स्कूल के योग्य नहीं हैं। उनसे जो काम कराया जाता है

उसमें उन्हें कदापि रुचि नहीं आ सकती। उनके लिए शिक्षा का अलग प्रबन्ध करने से उनकी दशा सुधर सकती है।

कभी ऐसा भी देखा जाता है कि साधारण बुद्धिवाले बालकों की दशा भी ऐसी हो जाती है। उन्हें कोई शारीरिक कष्ट भी नहीं होता। ऐसे बालकों की मानसिक स्थिति का विश्लेषण करने की आवश्यकता होती है क्योंकि दोष का कारण मानसिक ही होता है। भाववृत्ति का कुछ न कुछ दौरा होता है। बालक में कुछ अन्तःक्षोभिक विकार उत्पन्न हो जाता है। घर पर और स्कूल में उसे कुछ ऐसे अनुभव होते हैं और उसके साथ कुछ ऐसा व्यवहार किया जाता है कि जिससे उसके मन में अपरत्व का भाव उत्पन्न हो जाता है और वह अपने को हर बात में लघु समझने लगता है। ऐसा होने से उसका मन वास्तविकता से भागता है और वह अपने को हर बात से दूर रखने की चेष्टा करता है। जिन व्यवहारों और कारणों से ऐसी मानसिक दशा उत्पन्न होती है उनके ज्ञात हो जाने से यह दोष निवारण किया जा सकता है। ऐसी दशा में अध्यापक को सहानुभूति से काम लेना चाहिए नहीं तो दोष और बढ़ जाता है।

(४) अनाज्ञाकारी बालक और स्वतंत्र शासन-प्रणाली—कितने ही बालक ऐसे मिलते हैं जिनके बारे में हमारा यह अनुमान होता है कि वे आज्ञाकारी नहीं हैं। आज्ञाकारी बालक को सभी चाहते हैं। 'बड़ों की आज्ञा मानो' यह उपदेश बालकों को समय समय पर दिया जाता है।

बालक को किसी काम के लिए कहा जाता है किन्तु वह मना कर देता है। अध्यापक उससे याद करने या सवाल लगाने को कहता है। किन्तु वह नहीं करता। आज्ञा न मानने में बालक का क्या अभिप्राय रहता है? इस सम्बन्ध में उसे याद रखना चाहिए कि छोटा बालक न तो आज्ञा का अर्थ समझता है और न उसका व्यवहार आज्ञा भंग करने के अभिप्राय से होता है।

आज्ञा न मानने के कितने ही कारण हो सकते हैं। पहला तो यह कि बालक को, एक कार्य से—जिसमें वह लगा होता है, अपने मन को हटाकर दूसरे में लगाते समय कुछ विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। मन लग जाने के बाद उसे हटाने में व्यवसाय की आवश्यकता पड़ती है। फिर आज्ञा का मानना इस पर भी बहुत कुछ निर्भर है कि कार्य कैसा है और उसमें बालक की रुचि कहाँ

तक है। हम यह समझने लगते हैं कि सवाल न लगाकर बालक आज्ञा का पालन नहीं करता इसलिए वह अपराध करता है, परन्तु यह सच नहीं है। वास्तव में वह रुचि न होने के कारण सवाल नहीं लगाता। अध्यापक को चाहिए कि काम में रुचि दिलावे। बड़ा होने पर बालक व्यवसाय का उपयोग कर सकता है।

आज्ञा न पालन करने का एक कारण और भी होता है। बहुत से माँ-बाप और अध्यापक भी बालकों को स्वयं बिगाड़ते हैं। बिगाड़ने की मुख्य रीति बालकों को घूस देकर काम कराना है। 'अगर दवाई खा लोगे तो एक पैसा मिलेगा अगर सवाल निकाल लोगे तो सायंकाल को खेलने को भेजेंगे, अगर पाठ याद कर लोगे तो लड्डू दे देंगे' इत्यादि प्रयोग ऐसे हैं जिन्हें किसी विशेष अवसर पर काम में लाना बात दूसरी है, परन्तु बालक को इनके अधीन कर देना उसे अपङ्ग और अनाज्ञाकारी बनाना है।

कभी आज्ञा न मानने का कारण कुछ और ही होता है। मनुष्य की प्रकृति है कि अगर उससे कोई बात छिपाई जाय या न करने को कहा जाय तो उसके विरुद्ध करने की प्रेरणा होती है। अगर बालक से कहा जाय कि किताब खोलकर न देखना, तो वह अवश्य देखने की चेष्टा करेगा। विरुद्ध सूचना जोर कर जाती है। अध्यापक को आज्ञा देने में सावधान रहना चाहिए। आज्ञा जहाँ तक हो 'ऐसा करो' होनी चाहिए न कि 'ऐसा मत करो'। फिर आज्ञा देने की रीति ऐसी होनी चाहिए जिससे बालक को किसी प्रकार का संकेत न मिले।

बालक को बहुत-सी आज्ञाएँ देना अथवा बार बार नहीं आज्ञा देना उचित नहीं है। बहुत आज्ञा दे-देकर काम कराने से बालक की रुचि जाती रहती है और वह चित्त से काम नहीं करता, भाड़े के टट्टू की तरह आज्ञा पालन करता है। असली बात जो अध्यापक और स्कूल-मात्र को करनी चाहिए वह यह है कि धीरे धीरे बालक में उत्तरदायित्व का भाव उत्पन्न करे। बालक को जब यह ज्ञान होगा कि उसे अपने व्यवहारों का अपने ही को उत्तर देना है तब वह ठीक मार्ग पर जा सकेगा। बालक की आयु बढ़ने से यह भाव उसमें पूर्ण रूप से उत्पन्न हो जाता है। परन्तु यह न समझना चाहिए कि यह भाव बड़े होने ही पर उत्पन्न हो सकता है।

यह भाव छोटे छोटे प्रतिदिन के व्यवहारों ही द्वारा उत्पन्न कराया जा सकता है और बाल्यावस्था ही से इसकी नींव पड़नी चाहिए।

आजकल बालक में इस भाव को उत्पन्न करने के उद्देश्य से स्कूल की शासन-प्रणाली में बहुत-सी बातें जारी की जा रही हैं। स्कूल के बहुत-से शासन-सम्बन्धी कार्य ऐसे हैं जिनका भार बालक ही पर छोड़ा जा सकता है। बालकों में धीरे धीरे आत्म-सम्मान का स्थायी भाव बहुत-सी संस्थाओं-द्वारा उत्पन्न कराया जा सकता है। इन संस्थाओं और प्रणालियों का वर्णन करने की यहाँ जगह नहीं है पर अध्यापक को अब यह समझ लेना चाहिए कि मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से यह स्पष्ट हो गया है कि स्कूल के शासन में और अपने चरित्र-गठन में बालक को पूरा पूरा भाग लेना चाहिए।

अब हम स्कूल के विषयों की शिक्षा-शास्त्र-सम्बन्धी बातों पर विचार करेंगे। पश्चिमी देशों में कैसे बुद्धि-परीक्षा के लिए मापन तैयार किये गये हैं, उसी प्रकार उन सब विषयों के ऊपर, जो कि पाठशाला में पढ़ाये जाते हैं, कुछ परीक्षाएँ तैयार की गई हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से जो त्रुटियाँ साधारण परीक्षाओं में हैं इन परीक्षाओं के बनाने में उनको निवारण करने की चेष्टा की गई है। हर विषय के ऊपर परीक्षाएँ तैयार की गई है और उन्हें हजारों बालकों से कराकर मापन को प्रामाणिक बनाया गया है। विलायत की पाठशालाओं की शिक्षा-प्रणाली हमारे यहाँ से पृथक् है, विषय भी कुछ भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए उन परीक्षाओं का उल्लेख करना वृथा है। हाँ, यह कहना अनुचित न होगा कि अब वह समय आ गया है जब हम इन प्रान्तों में जो विषय सिखाये जाते हैं उन पर परीक्षाएँ बनाकर उन्हें प्रामाणिक बनायें जिससे हमारी परीक्षा-प्रणाली में मनोविज्ञान की दृष्टि से सुधार हो।

हर विषय के सीखने में बालक के सम्मुख कुछ न कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। कुछ कठिनाइयाँ कई विषयों में समान होती हैं, कुछ हर एक विषय में निराली होती हैं। अध्यापक इन कठिनाइयों के मनोवैज्ञानिक कारणों को जान लेने पर उनके निवारण का उचित प्रबन्ध कर सकता है। उदाहरणार्थ हम दो विषयों के बारे में विचार करेंगे।

केवल यह जान लेना कि बालक किसी विषय में कमजोर है, पर्याप्त नहीं

है। हर एक विषय में कितनी ही मानसिक शक्तियों का प्रयोग होता है, जैसे निरीक्षण करना, समझना, कल्पना करना, तर्क करना इत्यादि। बालक किसी मानसिक व्यापार को तो ठीक तरह से कर सकता है किन्तु किसी किसी में उसे कठिनाई होती है। जब तक अध्यापक हर विषय के आवश्यक मानसिक व्यापारों को जानकर उनका विश्लेषण नहीं कर सकता तब तक न तो वह बालक के दोष-गुण को ही समझ सकता है और न दोषों के निवारण का उपाय ही कर सकता है। पढ़ने (भाषा विषय के अङ्ग) को ले लीजिए। किसी बालक से एक पाठ पढ़कर सुनाने को कहा जाता है। वह ठीक पढ़कर नहीं सुना सकता। अब अगर अध्यापक जानता है कि पढ़ने में किन किन कारणों से दोष उत्पन्न हो सकते हैं और उनमें से कौन से उस बालक में हैं तभी वह उनके निवारण की उचित चेष्टा कर सकता है।

पढ़ने में चार मुख्य गुण माने गये हैं। (१) शुद्ध उच्चारण और ध्वनि के साथ पढ़ सकना। सच पूछा जाय तो पढ़ने का यह यन्त्रवत् गुण है। इस गुण में अधिक मानसिक व्यापार की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि बालक के पढ़ने में दोष हैं तो ठीक ध्वनि कैसे उत्पन्न करनी चाहिए उसे यह बताना उचित है। उच्चारण-शास्त्र इस बारे में सब कुछ बता सकता है। (२) ठीक गति के साथ पढ़ सकना। पढ़ने की एक उचित गति होती है। न तो उससे तेज और न उससे धीरे रुक-रुककर पढ़ना चाहिए। इस दोष में मानसिक व्यापार अथवा शारीरिक व्यापार दोनों में से किसी में त्रुटि हो सकती है। सम्भव है कि अक्षरों को बालक जल्दी न पहचान सकता हो। जिह्वा लड़खड़ाती हो या उसके हिचकने का कारण अंतःक्षोभिक हो। (३) भावुकता—यह तो मानसिक व्यापार पर पूर्ण रीति से निर्भर है। यदि बालक की अंतःक्षोभिक स्थिति में कुछ भी गड़बड़ी होगी तो यह दोष तुरन्त उत्पन्न हो जायगा। डरकर काम करनेवाला बालक कभी ठीक नहीं पढ़ सकता। पढ़ते समय अध्यापक का भय बिलकुल दूर हो जाना चाहिए। (४) समझकर पढ़ना। पढ़ाई यदि केवल तोते के समान ध्वनि उत्पन्न करना है तो वह वृथा है। बालक जो पढ़ता है उसे समझता है या नहीं इसका जानना आवश्यक है।

पढ़ने का मुख्य उद्देश्य इन सब लक्षणों से यही प्रतीत होता है कि पढ़ाई

के द्वारा पढ़नेवाला दूसरे व्यक्ति के विचार, भाव और ज्ञान को एक नियत समय में समझ सके और एक तीसरे व्यक्ति के इन भावों को प्रकट कर सके। अध्यापक प्रायः पढ़ने के उस भाग पर जो यन्त्रवत् होता है अधिक ध्यान देते हैं और उसकी त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु विशेष ध्यान उन्हें पढ़ने के मानसिक व्यापार की ओर देना चाहिए। मानसिक व्यापार के भी दो मुख्य अङ्ग हैं एक बुद्धि-विषयक और दूसरा अंतःक्षोभिक। बहुत से अध्यापक यह अनुमान करते हैं कि किसी पाठ को समझकर पढ़ने में बालक को केवल बुद्धि-विषयक अङ्ग का प्रयोग करना पड़ता है परन्तु ऐसा नहीं है। पढ़ने के मानसिक व्यापार में बालक, अपनी अंतःक्षोभिक स्थिति का पूरा पूरा उपयोग करता है और बहुत-सी त्रुटियों का कारण उसकी अंतःक्षोभिक स्थिति ही होती है। अगर हम उन दोषों पर ध्यान दें जो अशुद्ध कल्पना करने के कारण उत्पन्न होते हैं तो यह बात हमें तुरन्त स्पष्ट हो जायगी। यदि किसी पढ़े हुए पाठ का आशय बालक से पूछा जाय तो हमें मालूम हो जायगा कि वह जो कुछ बतलाता है उसमें कुछ तो वह है जो उसने शब्दार्थ इत्यादि की सहायता से समझा है और कुछ वह है जो उसकी कल्पना और अंतःक्षोभों के मिश्रण से उत्पन्न हुआ है।

हिज्जे करने के दोषों पर अगर विचार किया जाय तो भी यह प्रतीत होगा कि बालक के मानसिक व्यापार का विश्लेषण आवश्यक है। बालक जब हिज्जे करने में अशुद्धियाँ करते हैं तो प्रायः अध्यापक यही मान लेता है कि उन्होंने हिज्जों को याद नहीं किया। हर हिज्जे की त्रुटि एक-सी नहीं होती और न उसका कारण ही एक होता है। इसलिए हर एक का उपाय भी एक ही नहीं है। 'ए' और 'ह' देखने में कुछ कुछ समान दिखाई पड़ते हैं। इसलिए बालक 'कह' की जगह 'कए' लिख देता है। 'ड' और 'ढ' अगर स्पष्ट न बोले जायँ तो गड़बड़ी हो सकती है। ठीक न सुनने के कारण बालक 'गढे' की जगह 'गंडे' लिख देता है। ठीक न सुनना या देखना, आगे का पीछे समझ जाना, दो बार उसी शब्द को लिख देना, मिले अक्षर न मिला सकना, अशुद्ध उच्चारण जानना, इत्यादि बहुत-से कारण हैं जिनसे अशुद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इनमें से बहुत-सी ऐसी हैं जिन पर समझदार अध्यापक ध्यान देता है और देना ही चाहिए। परन्तु यह सब अशुद्धियाँ शब्दों की आकृति, ध्वनि, इत्यादि

बातों से सम्बन्ध रखती हैं। कुछ दोष ऐसे हैं कि जिनका सम्बन्ध शाब्दिक बातों से नहीं है परन्तु उनका सम्बन्ध हिज्जें करनवाले के व्यक्तित्व से है। वे अशुद्धियाँ सब विषयीगत मानी जा सकती हैं और मनोविज्ञान की दृष्टि से अध्यापक को उनकी ओर भी ध्यान देना चाहिए।

विषयीगत अशुद्धियों के कई कारण हो सकते हैं। भूल-चूक एक ऐसा कारण है जिससे कितनी अशुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। भूल-चूक सभी से हो सकती है परन्तु प्रायः वही बालक अधिक भूल करते हैं, और शब्दों को अशुद्ध लिखते हैं, या छोड़ जाते हैं जिन्हें आप मानसिक व्यापार पर पूरा अधिकार नहीं होता। मन पर पूर्ण अधिकार होना तो व्यक्तित्व का एक मुख्य गुण है। कुछ अशुद्धियां तब होती हैं जब कि बालक ठीक हिज्ज नहीं जानता और अपनी ओर से गढ़ने का प्रयत्न करता है। अक्षरों के मिलान में इस प्रकार की गढ़न्त बहुत होती है। ऐसा भी होता है कि कोई कठिन शब्द, जैसे छोटे बालकों के लिए 'स्मृति' बालक की समझ में नहीं आता। उस शब्द के हिज्जे न जानते हुए बालक 'सरन्ति' लिख देता है। अगर वही शब्द कई बार एक ही इमला में लिखना पड़ता है तो हर बार वह इसको भिन्न भिन्न रीति से लिखता है। कुछ अशुद्धियाँ बालक की शारीरिक और मानसिक आदतों पर निर्भर हैं और बालक उन्हे सदा करता है। बहुधा अशुद्ध पढ़ाई या उच्चारण के कारण कुछ अशुद्ध हिज्जे बालक के ध्यान में ऐसे जम जाते हैं कि वह उन्हें ध्यान से हटा नहीं सकता। इसी लिए अध्यापक से यह कहा जाता है कि वह जो नई बात बतावे वह ठीक ही होनी चाहिए नहीं तो अशुद्ध छाप लगकर बालक की अशुद्धि करने की आदत पड़ जाती है। कुछ अशुद्धियां बालक की कल्पना और अतःक्षोभिक स्थिति से उत्पन्न होती हैं। जब इमला लिखाया जाता है तब जो कुछ वह लिखता है वह वही होता है जो उसकी समझ में आता है। अगर किसी कारण जो लिखाया जाता है उसमें, और जो वह समझता है, उसमें अन्तर होता है तो कहीं कहीं अण्ड-बण्ड शब्द लिख देता है। 'जाने' की जगह 'आना' लिख जाता है। जैसी अण्ड-बण्ड स्थिति बालक की भाववृत्ति में होती है वैसी ही उसके शब्दों के फेर-फार करने में प्रकट हो जाती है।

गणित और विशेषकर अङ्कगणित ऐसा विषय है जिसमें बालक को

सबसे अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कुछ बालक तो ऐसे होते हैं जो इस विषय में कुछ भी नहीं सीखते या इतने धीरे धीरे सीखते हैं कि हम उन्हें मूर्ख या बुद्धिहीन समझने लगते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि कुछ बालक इस विषय में कमजोर होते हुए भी दूसरे विषयों में चतुर होते हैं। इन बालकों को मन्दबुद्धि मान लेना उचित न होगा। वास्तव में इन बालकों को गणित पढ़ाते समय रुचि और शिक्षा-प्रणाली का उचित ध्यान नहीं रक्खा गया। किसी विषय में अरुचि उत्पन्न हो जाने के उपरान्त बालक के लिए उसमें ध्यान देना बहुत कठिन हो जाता है। 'अंक' का ज्ञान बालक को वस्तुओं-द्वारा और क्रियात्मक रीतियों से देना चाहिए। 'अंक' क्या है और उसका क्या महत्त्व है यह बात तो बहुत आगे चलकर स्पष्ट होती है। शिक्षा-प्रणाली को पहले ही से प्रत्याहृत बना देना उचित नहीं है।

मान लीजिए कि बालक को गणित से अरुचि नहीं है। अब बालक की कठिनाइयों का पता लगाने के लिए हमें यह देखना पड़ेगा कि गणित में कौन कौन-सी मानसिक क्रियाओं की आवश्यकता है। जो बालक गणित का प्रश्न हल नहीं कर सकता उसे कौन-सी क्रिया करने में कठिनाई पड़ती है। गणित में नाना प्रकार की स्मृति की आवश्यकता पड़ती है। बहुत कुछ तर्क करना पड़ता है। फिर विश्लेषण कर सकना, मिलान कर सकना, प्रत्याहार कर सकना, निगमन कर सकना, संश्लेषण कर सकना इत्यादि इत्यादि क्रियाएँ हैं जिनका प्रयोग विद्यार्थी के मन को करना पड़ता है। उचित प्रश्न देकर और बालकों से क्रिया कराकर अध्यापक को यह पता लगाना पड़ेगा कि कौन-सी क्रिया में बालक कठिनाई का अनुभव करते हैं।

इन मानसिक व्यापारों के जान लेने के उपरान्त यह भी पता लगाना पड़ेगा कि गणित की कौन कौन-सी क्रियाएं ऐसी हैं जिनमें बालक अधिक अशुद्धियाँ करता है। कुछ मुख्य क्रियाएं जैसे जोड़, बाकी, गुणा, भाग, भिन्न, दशमलव ऐसी हैं जिनका उपयोग प्रश्नों को करते समय बार बार करना पड़ता है। जिस क्रिया के करने में बालक कमजोर होगा उसी प्रकार के प्रश्न करने में वह अशुद्धियाँ करेगा। इन हर एक मुख्य क्रियाओं के जुदे जुदे अंग हैं जिनका विश्लेषण अध्यापक को करना पड़ेगा और यह पता लगाना पड़ेगा कि बालक की

कठिनाई क्रिया के किस अंग में है। उसका ज्ञान होने से बालक की उस कठिनाई को दूर करने से बालक को बड़ा लाभ होगा।

उदाहरणार्थ, गुणा की क्रिया को लीजिए। ३५८७ को ३४२ से गुणा करना है। इसे मन में बालक नहीं कर सकता। अब इसके करने के कई मुख्य क्रियाएँ करनी पड़ती हैं :—(१) गुणनफलों या पहाड़ों का याद होना। यह स्मृति पर निर्भर है। यदि पहाड़ों के याद न होने के कारण अशुद्धियाँ होती होंगी तो उसका पता चल जायगा। (२) हासिल लेना। पहाड़ा ठीक जानते हुए इकाई का अङ्क रखकर आगे हासिल लेने में अशुद्धि हो सकती है। इसका भी पता चल सकता है। (३) अङ्कों को अपने स्थान पर रख सकना। (४) शुद्ध जोड़ लगा सकना। अध्यापक के केवल इतने जानने से ही काम नहीं चलेगा कि बालक गुणा के प्रश्न ठीक नहीं लगा सकता। उसे यह जानना भी आवश्यक है कि गुणा के प्रश्न करने की क्रिया के किस अङ्ग में बालक अशुद्धि करता है। यह जान लेने से थोड़े समय में गुणा करने की कठिनाई निवारण हो सकती है। किसी एक क्रिया के एक अंग में कमजोरी होने से केवल वही क्रिया नहीं बल्कि दूसरी सब क्रियाएँ जिनमें उसका उपयोग होता है बिगड़ जाती हैं। यदि अध्यापक अपने काम में सचमुच सफलता प्राप्त किया चाहता है तो उसे चाहिए कि बालक की अशुद्धियों का ठीक विश्लेषण करके उसकी कमजोरी का पता लगावे।

अन्त में हम फिर उसी बात पर लौटना चाहते हैं जिसका वर्णन हमने पहले पाठ के आरम्भ में किया था। वर्तमान काल के शिक्षा-शास्त्र में, जिस पर मनोविज्ञान का पूरा प्रभाव पड़ा है, बालक पर पूरा ध्यान दिया जाता है। अध्यापक के लिए केवल विषय जानना पर्याप्त नहीं है। अध्यापक के लिए बालक का जानना उतना ही आवश्यक है जितना कि विषय का। मनोविज्ञान के अध्ययन से बालक के मानसिक व्यापारों का पूरा पता चल जाता है। उसके जान लेने से अध्यापक को अपने कार्य में पूरी सहायता मिलती है। बालक को जानना और अपनी शिक्षा-पद्धति को उसके अनुकूल और उसके लिए लाभदायक बनाने की चेष्टा करना अध्यापक का मुख्य कर्तव्य है।

परिशिष्ट—क

प्रश्नावली (QUESTIONS)

प्रश्न अध्यायों के क्रम से दिये गये हैं। अन्त में कुछ विविध प्रश्न भी दिये हैं।

(१) मनोविज्ञान क्या है? शिक्षा-शास्त्र और मनोविज्ञान में क्या सम्बन्ध है? अध्यापक को मनोविज्ञान जानने से क्या लाभ हो सकता है, स्पष्ट रीति से समझाओ।

(२) प्राणी किसे कहते हैं? जड़ और प्राणी के व्यवहार में क्या अन्तर है?

(३) मस्तिष्क मनुष्य के शरीर का राजा क्यों माना जाता है? मानसिक और शारीरिक क्रियाओं में क्या सम्बन्ध है?

(४) परम्परा से क्या समझते हो? परम्परा और परिस्थिति में क्या सम्बन्ध है?

(५) कुछ मनोविज्ञानवेत्ता मनुष्य के जीवन में परम्परा का महत्त्व मुख्य मानते हैं और कुछ परिस्थिति का। तुम्हारी इस बारे में क्या सम्मति है?

(६) प्राकृतिक प्रवृत्ति किसे कहते हैं? प्राकृतिक प्रवृत्तियों के व्यापार पर शिक्षा का कार्य कहां तक निर्भर है?

(७) 'मनोविकार मनुष्य के व्यवहार पर बहुत प्रभाव डालता है। यह प्रभाव बुरा और भली दोनों हो सकता है', कुछ उदाहरणों द्वारा समझाओ कि बालकों के मनोविकार को उचित व्यवहार में लाने के लिए क्या उपाय करोगे?

(८) अपने मन की गति निम्नलिखित अवस्थाओं में वर्णन करो—

(क) प्रेमी से बहुत दिनों उपरान्त मिलने पर।

(ख) अपनी पुरानी पाठशाला को फिर देखने पर।

(ग) कोई प्राकृतिक दृश्य का चित्र देखने पर।

(घ) अस्पताल में बीमारों के कमरों में घूमते समय।

(९) 'विधायकता और कुतूहल दोनों ऐसी प्रवृत्तियां हैं जिनसे कि अध्यापक को अपने कार्य में बहुत सहायता मिलती है।' कुछ विषय जो तुम स्कूल में

सिखाते हो उनमें से उदाहरण लेकर इस बात को स्पष्ट रीति से समझाओ।

(१०) झगड़ालूपन बालकों में कब अधिक प्रबल होता है? पाठशाला के काम में उसको किस प्रकार उत्तम रीति से उचित मार्ग में लगाओगे?

(११) 'सूचना से बालकों को धोखा दिया जा सकता है पर बालक को लाभ भी बहुत होता है।' सूचना को किस प्रकार काम में लाओगे जिससे लाभ हो और बुरा परिणाम न निकले।

(१२) किसी पाठशाला की चाल अथवा रिवाज से क्या समझते हो? रिवाज के बनाने में बालक की कौन कौन-सी प्रवृत्तियों का और किस प्रकार प्रयोग किया जाता है?

(१३) बालकों को क्रीड़ा करते तुमने देखा ही होगा। बालकों की आयु में ध्यान रखते हुए उनके उस क्रिया के अभिप्राय का विश्लेषण करो।

(१४) वर्तमान मनोविज्ञान ने बालकों को खेल के द्वारा शिक्षा देने पर बहुत जोर दिया है। 'खेल के द्वारा शिक्षा' से क्या समझते हो? उदाहरणों-द्वारा बताओ खेल का प्रयोग किस प्रकार करोगे।

(१५) स्थायीभाव किसे कहते हैं? स्पष्ट रीति से समझाओ कि बालकों में देश-सेवा का स्थायीभाव किस प्रकार उत्पन्न करोगे?

(१६) कौन कौन-से स्थायीभाव तुम बालकों में उत्पन्न करना उचित समझते हो? ऐसे कौन से प्रयोग करोगे जिनसे कोई बुरा भाव न उत्पन्न होने पावे?

(१७) हठ और व्यवसाय में क्या अन्तर है? व्यवसाय को गुण क्यों माना है? व्यवसाय का प्रयोग बालकों से कब कराना चाहिए?

(१८) पाठशाला की कुछ उन प्रणालियों और संस्थाओं का वर्णन करो जिनसे बालकों को सच्चरित बनाने की चेष्टा की जाती है।

(१९) ज्ञानेन्द्रिक शिक्षण से बालकों को क्या लाभ होता है? बालकों की ज्ञानेन्द्रियों के शिक्षण के लिए क्या क्या उपयोग करने चाहिए?

(२०) किसी निरीक्षण-सम्बन्धी पाठ को, जिसे तुमने देखा हो, वर्णन करो।

बालक और अध्यापक का ऐसे पाठ में क्रमानुसार क्या-क्या भाग होना चाहिए ?

(२१) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस बात को समझाओ कि शिक्षा-पद्धति में दस्तकारी के प्रयोग पर वर्तमान काल में क्यों अधिक जोर दिया जाता है।

(२२) अवधान किसे कहते हैं ? अवधान और रुचि में क्या सम्बन्ध है ?

(२३) कहा जाता है कि आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में बालक की रुचि पर बहुत ध्यान दिया जाता है। ऐसा करने से बालक के कार्य को इतना सरल बना दिया है कि उसे कुछ लाभ नहीं होता। इस टीका से कहाँ तक सहमत हो ? अपने विचार प्रकट करो।

(२४) पाठशाला में बालकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए क्या-क्या उपाय प्रचलित है ? तुम किनसे सहमत हो और किनसे नहीं, विधिपूर्वक समझाओ।

(२५) बालकों को किन किन कामों और विषयों में ध्यान देने में कठिनाई होती है ? यह बताओ कि तुम क्या उपयोग करोगे जिससे वे कठिनाइयाँ निवारण हो सकें।

(२६) यह कैसे मालूम करोगे कि किसी दरजे में बालक या अध्यापक पाठ की ओर ध्यान दे रहे हैं या नहीं ?

(२७) विचार-सम्बन्ध से क्या समझते हो ? स्मृति विचार-सम्बन्ध पर कहाँ तक निर्भर है ?

(२८) बालकों को परीक्षा के नम्बर, क्रिकेट खेल के रन, इत्यादि तो सुगमता से याद रहते हैं परन्तु इतिहास की मितियाँ वे भूल जाते हैं। इसका क्या कारण है ? स्पष्ट रीति से समझाओ।

(२९) स्मृति के सम्बन्ध में जो ऐसे प्रयोग किये गये हैं जिनसे अध्यापक को अपने काम में सहायता मिलती है, उनका संक्षेप में वर्णन करो।

(३०) बालकों को जो कुछ पढ़ाया जाता है उनमें से बहुत कुछ उन्हें याद भी करा देना चाहिए। कुछ विषयों से उदाहरण लेकर अपनी प्रणाली समझाओ।

(३१) निम्नलिखित बातों के याद करने के लिए क्या क्या उचित रीति समझते हो—

(क) एक २५ पंक्ति की कविता।
(ख) व्याकरण की परिभाषाएँ।
(ग) पहाड़े।
(घ) किसी मित्र के घर के पते को।

(३२) रूसो (Rousseau) ने कहा है कि 'बालकों को किसी आदत के डालने की आवश्यकता नहीं है।' जेम्स (James) का कहना यह है कि 'पाठशाला का मुख्य कर्तव्य है कि बालक में सभी बातों की उचित आदतें डाली जायें।' दोनों विचारों पर ध्यान से सोचकर अपने विचार प्रकट करो।

(३३) कौन कौन-सी आदतें तुम बालकों में उत्पन्न कराना उचित समझते हो? पाठशाला में उनके उत्पन्न करने के लिए क्या उपाय करोगे?

(३४) अपनी कुछ मुख्य मानसिक और शारीरिक आदतों का वर्णन करो और इस बात का विश्लेषण करो कि तुमने उन्हें किस प्रकार सीखा।

(३५) बालकों में भावना-शक्ति का विकास किस प्रकार होता है? शिक्षा में क्या क्या उचित प्रयोग करने चाहिए जिनसे यह विकास उत्तम हो?

(३६) मोन्टेसोरी (Montessori) का यह कथन है कि 'परियों की कहानियों से छोटे बालकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है इस कारण उन्हें इनसे दूर रखना चाहिए।' इस बारे में तुम्हारे क्या विचार हैं?

(३७) पाठशालाओं की कितनी शिक्षा-प्रणालियों के सम्बन्ध में यह शिकायत है कि वे कला-शास्त्र की ओर ध्यान नहीं देतीं? यह बताओ कि बालकों में सौन्दर्य-बुद्धि के विकास के लिए पाठशाला में क्या क्या किया जा सकता है।

(३८) अपने किसी अनिद्र स्वप्न का वर्णन करो और अपनी कल्पनाओं का विश्लेषण करो।

(३९) मानसिक थकान किस प्रकार उत्पन्न होती है? इसका कैसे पता लगा सकते हैं कि किसी कक्षा के बालक थक गये हैं। थकान दूर करने का क्या यत्न करोगे?

(४०) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पाठशाला के समय-विभाग में किन किन बातों पर ध्यान रखना चाहिए ?

(४१) बुद्धि से क्या समझते हो ? बुद्धि और विद्या में क्या अन्तर है ?

(४२) यह कहा जाता है कि 'बालक की नैसर्गिक बुद्धि में शिक्षा से वृद्धि नहीं की जा सकती।' जो कुछ तुम इस बारे में विचार रखते हो, प्रमाणों-द्वारा स्पष्ट करो।

(४३) बुद्धि-परीक्षा के लिए क्या क्या प्रयोग किये गये हैं ? उनका संक्षिप्त वर्णन करो।

(४४) अपने प्रान्त की स्थिति को ध्यान में रखकर बताओ कि बुद्धि-परीक्षा-पत्र बनाने में किन किन बातों को सम्मिलित करोगे।

(४५) पाठशाला में मार-पीट की शासन-प्रणाली से तुम कहाँ तक सहमत हो ? शासन की प्रणाली पर मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रकाश डालो।

(४६) शिक्षा क्या है ? उसके उद्देश्य के बारे में अपने विचार प्रकट करो।

(४७) पाठशाला को 'छोटा समाज' कहा जाता है। तुम्हारी सम्मति में पाठशाला बाह्य समाज का नमूना कहाँ तक हो सकता है ?

(४८) 'बालचरमण्डल' का काम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़ा उपयोगी गिना जाता है। ऐसा क्यों है ? तुम किसी आयु के बालकों के लिए इसे अधिक उपयोगी समझते हो ?

(४९) 'ज्ञात से आरम्भ करके अज्ञात को बालक को सिखाने की चेष्टा करनी चाहिए।' उदाहरण-द्वारा इस शिक्षा की रीति को समझाओ।

(५०) प्रयोगों और क्रियाओं के करने से मनोविज्ञान को क्या लाभ है ? प्रयोगिक मनोविज्ञान की उत्पत्ति से अध्यापक को अपने कार्य में कहाँ तक सहायता मिल सकी है ?

(५१) कुछ नई शिक्षा-प्रणाली, जैसे डाल्टन प्लैन (Dalton Plan) अथवा प्राजेक्ट मेथड (Project Method) इत्यादि पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार प्रकट करो।

परिशिष्ट—ख

GLOSSARY

ENGEISH HINDI

Abstract—प्रत्याहृत
Abstraction—प्रत्याहार
Absurd—व्याहत
Adolescence—तारुण्य
Adjustment—संघटन
Æethetic—रस-सम्बन्धी, कला-सम्बन्धी
Æsthetics—कला-शास्त्र
Æsthetic faculty—सौंदर्य-बुद्धि
Affect—भावविकार
Afferent—अंतर्वाही
Aim—उद्देश्य
Analysis—विश्लेषण
Animal—प्राणी
Association—सहचार
Association of ideas—विचार-सम्बन्ध
Attention—अवधान
Automatic—स्वतः प्रवृत्त
Auditory—श्रावण

Apperoception—अंतर्बोध
Behaviour—व्यवहार
Brain—मस्तिष्क
Cell—कोष्ठ
Cerebellum—लघु मस्तिष्क
Cerebrum—बृहत मस्तिष्क
Character—चरित्र
Characteristic—स्वभाव, विशेष गुण
Classification—जाति-विभाग, राशीकरण
Cohesion—संसक्ति
Cohesion of ideas—प्रत्यय सम्बन्ध
Complex—मिश्रित, पेचीदा
Conation—व्यवसाय, कामना
Concept—सामान्य प्रत्यय
Conception—समवधारण
Conservation—रक्षण अविनाश
Consciousness—चेतना

Consciousness Stream of—चेतना-प्रवाह
Constructiveness—विधायकता
Constructive—निर्माणात्मक
Constructive imagination—निर्मित कल्पना
Concentration—एकाग्रता
Contiguity—अव्यवधान, अव्यवधानता-सान्निध
Correlation—अनबन्ध
Coefficient of correlation—अनुबन्ध गणक
Cramming—तोता-रटन्त
Creation—उत्पादन
Creative—उत्पादक
Critical—परीक्षात्मक आलोचनात्मक
Curiosity—कुतूहल जिज्ञासा
Day dreaming—अनिद्र स्वप्न, हवा-बन्दी ख्याली पुलाव
Deduction—निगमन
Definition—परिभाषा
Development—विकास
Dissociation—पृथकचार
Efferent—बहिर्वाही
Effort—प्रयास
Emotion—अन्तःक्षोभ, मनोविकार
Energy—शक्ति
Emulation—स्पर्धा
Experience—अनुभव
Experiment—प्रयोग क्रिया
Environment—परिस्थिति
External—बाह्य
Faculty—शक्ति
Fancy—लग उत्प्रेक्षा
Fantastic—औत्प्रेक्षिक
Feeling—क्षोभ
Forgetfulness—विस्मृति
Frequency—अभ्यास
Fear—भय
Formation—गठन
Function—वृत्ति कार्य
Generalization—अनुगम
Group—समूह
Habit—आदत व्यसन, अभ्यास
Heredity—परंपरा
Hypothesis—कल्पना
Ideal—आदर्श
Idea—विचार भाव
Ideation—अवधारण
Image—प्रतिमा
Imagery—प्रतिमा-कल्पना
Imagination—कल्पना, भावना
Imitation—अनुकरण
Immediate—अनन्तर, अव्यवहित
Implicit—अतर्गत
Impulse—आवेग

Individually—व्यक्तित्व
Induction—अगमव
Innate—नैसर्गिक
Insight—सूक्ष्म दृष्टि
Inhibition—स्तम्भन
Intelligence—बुद्धि, मनीषा
Intellectual—बुद्धि-विषयक
Interest—रुचि
Introspection—अंतर्दृष्टि
Instinct—प्राकृतिक शक्ति
Instinctive intelligence—नैसर्गिक बुद्धि
Interaction—परस्पर क्रिया
Involuntary—अनैच्छिक, अप्रयास
Incidental—प्रासंगिक
Interpretation—अनुवादन, विवरण
Invention—नवकल्पना
Illusion—माया, मरीचिका
Internal—आंतरिक
Judgment—निर्णय
Knowledge—विद्या, ज्ञान
Living organism—प्राणी
Manifestation—आविर्भाव
Material—भौतिक
Mind—मन
Mental—मानसिक
Mental development—मनोविकास
Measurement—मापन, मापना
Memory—स्मृति, स्मरणशक्ति
Method—प्रणाली
Motive—प्रयोजन
Morality—सदाचार
Modulla oblongata—सुषुम्ना-शीर्षक
Natural—प्राकृतिक, स्वाभाविक
Nature—प्रकृति
Need—वांछा
Nerve—नाड़ी-तंतु
Nerve Cell—नाड़ी-कण (कोष्ठ)
Norm—प्रतिमान
Objective—विषयात्मक
Observation—निरीक्षण
Operation—व्यापार
Organization—व्यूहन
Originality—नवीनता, मौलिकता
Olfactory—घ्राण
Ownership—ममता
Pedagogy—शिक्षा-शास्त्र
Percept—सविकल्पक प्रत्यक्ष
Perception—सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान
Perseverance—अनुरोध

Phase—अवस्था
Phonetics—उच्चारण शास्त्र
Physical—शारीरिक, भौतिक
Passive—निष्क्रिय
Permanent—स्थिर
Personality—व्यक्ति
Phenomenon—प्रमेय, विकृति
Play—खेल, क्रीड़ा
Power—शक्ति
Presentative—प्रत्यक्षात्मक
Principle—मूल सिद्धान्त
Practical—क्रियात्मक
Pragmatic—कृत्यसाधक
Pragmatism—कृत्यसाधकतावाद
Physiology—शरीर-शास्त्र
Psychology—मनोविज्ञान
Psychologist—मनोविज्ञानवेत्ता
Psychic—मानसिक
Pugnacity—अड़, झगड़ालूपन
Purpose—अभिप्राय
Qualitative—गुणात्मक
Quantitative—परिमाणात्मक
Reaction—प्रतिक्रिया
Recency—नवीनता
Reality—वास्तविकता
Reasoning—तर्क
Recognition—प्रत्यभिज्ञा, पहिचानना
Recall—पुनरुज्जीवन
Reflex—प्रतिक्रियात्मक
Reproduction—पुनरुत्पादन
Retention—धारण, स्तंभन
Revival—पुनरुज्जीवन
Responsibility—भार, उत्तर-दायित्व
Representation—प्रतिस्मरण
Remote—व्यवहृत
Repetition—दोहराना, पुनरावृत्त
Satisfaction—संतोष, प्रसाद
Science—विज्ञान
Scientist—विज्ञानवेत्ता
Scientific—वैज्ञानिक
Self—आत्म, स्व
Self-consciousness—आत्मज्ञान
Self-determining—स्वतंत्र
Self-feeling—अहंभाव
Self-interest—स्वार्थ
Self-respect—आत्मसंभाविकता
Self-regard—आत्मसम्मान
Self-preservation—आत्मरक्षा
Sensation—निर्विकल्पकप्रत्यक्षज्ञान
Sensory—ज्ञानेन्द्रिय-सम्बन्धी
Sentiment—स्थायीभाव
Situation—अवस्था
Stimulus—उत्तजना

Social—सामाजिक
Span—विस्तार
Standard—प्रतिमान, परिमाण
Standardize—प्रामाणिक करना, प्रमाणानुसार करना

Structure—निर्माण
Strength—प्रबलता
Subconscious—अनभिभूत
Subject—विषयी
Subjective—विषयीगत
Suggestion—सूचना
Sympathy—सहानुभूति
Synthesis—संश्लेषण
System—संस्थिति, संस्थान, व्यवस्था, रीति

Similarity—समानता
Systematization—व्यूहन, संबंधन
Tabula rasa—कोरा पत्र
Tactile—स्पर्श
Temperament—स्वभाव
Tendency—प्रवृत्ति
Theory—सूत्र, कल्पना
Theoretical—सूत्रात्मक, काल्पनिक
Thought—विचार
Trust—विश्वास
Trusth (essence)—तत्त्व
Unconsciousness—अचेतनता
Unconscious—अचेतित
Vividness—प्रबलता
Voluntary—ऐच्छिक
Volition—व्यवसाय
Will—व्यवसाय
Wisdom—ज्ञान

—